पं० अनन्तराम के प्रबन्ध से

अनन्तराम और साठे के सद्धर्म-प्रचारक यन्त्रालय

देहली में मुद्रित

अथ भूमिका.

"नया नौ दिन पुराना सौ दिन" यह बहुत पुरानी लोकोक्ति है। नए सत्यार्थप्रकाश को अङ्गीकार करके पुराने को सर्वथा भुलादेने में आर्य पुरुषों ने बहुत भूल की। लग भग ३१ वर्ष हुए जब मैंने आदिम सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा था। उस समय मेरे हृदय पर उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। उसके पश्चात् मैंने उसे सर्वथा भुला दिया था और यहां तक भुलाया था कि उसी आदिम गुरु से प्राप्त की हुई युक्तियों तथा प्रमाणों को भी अपने ही निर्मित और अपने ही ढूंढ़े हुए समझ बैठा था। परन्तु परोपकारिणी सभा में जब यह विषय पिछली दिवाली के दिन पेश हुआ तो मेरा ध्यान इसकी ओर फिर खिंचा। प्रश्न यह था कि पंडित कालूराम को उस ग्रंथ के पुनः छापने से न्यायालय द्वारा बंद कराया जावे। मेरी सम्मति इसके विरुद्ध थी, परंतु उपस्थित सज्जनों ने यह विषय आर्यप्रतिनिधिसभा संयुक्त प्रांत के सपुर्द करना उचित समझा। उन्होंने क्या आंदोलन किया और क्या सम्मति दी, इससे कुछ मतलब नहीं परंतु कालूराम जी की किताब निकलते ही आर्यसामाजिक जगत् में घोर आन्दोलन शुरू होगया और संयुक्तप्रांत की आ० प्र० सभा के आर्गन ने बड़े जोश के लेख लिखे। तब मैंने 'आदिमसत्यार्थप्रकाश' पुस्तक गुरुकुल विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से मंगाया और पंडित कालूराम की पुस्तक भी प्राप्त की। सारा ग्रंथ पढ़ने पर मुझे आश्चर्य हुआ कि क्यों इतना शोर मचाया गया। क्यों न इस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर दे कर पहले से ही विरोधियों के मुँह बंद कर दिए गए और क्यों निष्पक्षपात सर्वसाधारण को भ्रम में पड़ने दिया गया। इसका कारण विशेषतः आर्यविद्वानों का आलस्य प्रतीत होता है। पहले सत्यार्थ प्रकाश के विषय में अधिक भ्रम पंडित भीमसेन (इटावा निवासी) ने फैलाया था। उस के दो दृष्टांत यहां देने से ही पता लग जायगा कि उन्होंने कितनी हानि पहुंचाई।

(१) जब मुँशी इंद्रमणि को आर्य्यसमाज से निकाला गया तो उन्होंने अपने चेले जगन्नाथ दास के मत समर्थन के लिये एक लघु पुस्तक 'अनंत तत्व प्रकाश' नामिनी लिखी; उसमें दर्ज था-" स्वामी दयानंद सरस्वती के मत का कुछ ठिकाना नहीं है कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ-अब से दस वर्ष पहिले जीव को कालपरिच्छिन्न और उत्पत्ति वाला जानते थे सत्यार्थ प्रकाश के पृ० १५२ और २३२ पर देखो। जब कि उनको कोयल और मुरादाबाद में समझाया गया कि जीव की उत्पत्ति मानना वेद और उपनिषद् और सूत्रादि समस्त प्रामाणिक ग्रंथों के विरुद्ध है ....निदान बहुत समझाने के उपरांत स्वामी जी ने जीव को अनादि और अंत रहित माना...... "

इसपर पं० भीमसेन को चाहिए था कि पुराने सत्यार्थप्रकाश को आद्योपान्त पढ़ जाते तो उन्हें पता लगजाता कि मुंशी इंद्रमणि का आक्षेप कैसा निर्मूल है। मु० इंद्रमणि ने पहला हवाला पृ०१५१ का दिया है। वहां पर्दे के विरुद्ध लिखते हुये ऋषि दयानंदने लिखाया है-"देखना चाहिये कि परमेश्वर ने तो सब जीवों को स्वतंत्र रचे हैं और उन(स्त्रियों) को पुरुष लोग विना अपराध से परतंत्र अर्थात् बंधन में रखते हैं,' फिर २३२ पृ० पर लिखा है—" ईश्वर है अनंत दयालु जब जीवों को ईश्वर ने रचा तब विचार करके सब कोस्वतंत्र ही रख दिये। क्योंकि परतंत्र के रखने से किसी को भी सुख नहीं होता।"

यहां 'रचा' शब्द के अर्थ पर विवाद है। स्वामीजी ने यहां जीवात्मा के निज स्वरूप का निरूपण नहीं किया प्रत्युत मनुष्य (देह विशिष्ट जीव) की उत्पत्ति का वर्णन किया है। मुँशी जी ने पूर्वापर को छोड़ कर इस संदिग्ध इबारत के आधार पर झूठा दावा कर दिया और पंडित भीमसेन ने कष्ट उठाने से भागते हुए विना आदिम सत्यार्थ प्रकाश के पत्रे खोले ढीला सा लेख लिख दिया। यदि आदिम सत्यार्थ प्रकाश के पत्रे उलटते तो वहां लिखा हुआ मिलता—

पृ० २२२-"जो जीव है सो ज्ञान वाला है, परन्तु जीव का उतना सामर्थ्य नहीं इससे कोई पृथिव्यादि भूत और जीव से भी भिन्न पदार्थ

अवश्य है जो सब जगत् का कर्त्ता और नियमों का नियन्ता ईश्वर अवश्य है।"

पृ० २३१-यह बतला कर कि तत्त्व आप नहीं मिल सकते और न जड़ तत्त्वों के मिलने से जीव बन सक्ता है लिखते हैं—"इस लिंग शरीर में जो अधिष्ठाता कर्त्ता और भोक्ता उसी को जीव कहते हैं जोकि एक काल में बुद्ध्यादिकों के किये कर्मों का अनुभव करता है *चेतन स्वरूप है* उसका नाम जीव है"

पृ० २३२ मुंशी इन्द्रमणि के दिए प्रमाण के नीचे—"प्रश्न-जीव का निज स्वरूप क्या है उत्तर-विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। यह कपिल मुनि का सूत्र है·········लिङ्ग शरीर जो है उसका अधिष्ठाता है सोई जीव है दर्पण के तुल्य अन्तःकरण शुद्ध है·······*चेतन एक जीव और दूसरा परमेश्वर ही है तीसरा (चेतन) कोई नहीं।*

पृ० २७८-"प्रश्न यह जन्म जो होता है सो एक बार ही होना है दूसरी बार नहीं क्योंकि यह दूसरा जीव है सो नया २ उत्पन्न हो जाता है और शरीर धारण करता है जोकि पहिले शरीर धारण किया था सो जीव फिर नहीं आता *उत्तर-यह बात मिथ्या है क्योंकि जो दूसरा जीव होता तो उसको पूर्व के संस्कार नहीं दीख पड़ते*" इन लेखों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट दिखाई देता है कि न तो जीवात्मा को स्वामी दयानन्द परिच्छिन्न मानते थे और न उत्पत्ति वाला और नहीं मुंशी इन्द्रमणि से संस्कृत शून्य आदमी उनको शास्त्रों के सिद्धान्त विषय में कुछ बतला सकते थे।

(२) फिर मुन्शी इन्द्रमणि ने लिखा—"देखो दयानन्द ने भी सत्यार्थ प्रकाश के पृ० २३८ में यही लिखा है। ईश्वर का ज्ञान निर्भ्रम है जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही जानता है। निदान जबकि वास्तव में जीव अनन्त है तो परमेश्वर के समीप क्योंकर अतीव अल्प हैं।" इस के उत्तर में पुस्तक देखने की जगह पं० भीमसेन ने आर्य सिद्धान्त भाग ३ अंक ११ में लिख दिया" यद्यपि वह अनेक प्रकार के उत्तर उन २ तर्कों पर दे सकते हैं तथापि बहुत गाथा न गाकर *मुख्य सिद्धान्त रूप उत्तर*

यही है कि स्वामी जी ने सम्मति बदल ली । इस ढीले लेख से विरोधियों को विचित्र कल्पनाएं करने का अवसर दिया । यदि आदिम सत्यार्थ प्रकाश का पृ० २३८ निकालते तो वहां इस प्रकार लिखा पाते- ईश्वर सर्व शक्तिमान् है परन्तु *उसकी शक्ति न्याय युक्त है* अन्याय युक्त नहीं इस से ईश्वर सदा न्याय ही करता है कि अविनाशी पदार्थ को अविनाशी जानता है और उसके विनाश की इच्छा नहीं करता और जो विनाश वाला पदार्थ है उसका नाश न होवे ऐसी भी इच्छा नहीं करता *क्योंकि ईश्वर का ज्ञान निर्भ्रम है जो जैसा पदार्थ है उसको वैसा जानना और वैसा ही करता है* " इस पूरे लेख के पढ़ने से मुंशी इन्द्रमणि जी ने जिस प्रकरण को इस उद्धरण से सिद्ध करना चाहा था वह सिद्ध नहीं होता परन्तु पं० भीमसेन ने उत्तर क्या दिया – " परन्तु यह अनुमान होता है कि यह पाठ कदाचित् सब से पहिले छपे सत्यार्थ प्रकाश में हो । तो उसका प्रमाण अब देना भूल है । क्योंकि पीछे पीछे जो नियम (क़ानून) बनते हैं उनका स्पष्ट यही अभिप्राय होता है कि पहले में जो कुछ न्यूनता है वह निकल जावे और अब कोई पुरुष पहिले नियम के अनुसार न चले "

इस प्रकार के भ्रम मूलक लेखों ने आर्य पुरुषों के लिए पहिले छपे सत्यार्थ प्रकाश को त्याज्य बतलाकर उनको इस से इतना डराया कि अपने मूल सिद्धान्त पर ही कुल्हाड़ा चल रहा है । आर्य समाज का मत वेद है । जब वेद विरुद्ध होने से उपनिषद् तक के लेख की हम उपेक्षा कर सकते हैं तो फिर आदिम सत्यार्थ प्रकाश के पुनरुदय से घबराने की कौनसी बात है । परन्तु इस ग्रन्थ के पढ़ने से आर्य समाजस्थ सभ्यों को विदित हो जायगा कि आदिम सत्यार्थ प्रकाश मनसूख़ शुदा क़ानून के तुल्य त्यागने योग्य नहीं प्रत्युत ज़ङ्ग खाई हुई ईस्पात की तलवार है, जिसको सान पर चढ़ा कर ऐसा चमकाया जा सकता है कि अविद्या की जंज़ीरों को काटने का फिर से वही अपूर्व काम कर सके, जो इसने बड़े अन्धकारावृत समय में किया था ।

आज इटावा निवासी पण्डित भीमसेन चाहे कुछ भी लिखें और कहें परन्तु वह अपनी लेखनी से कई बार लिखकर स्वीकार कर

चुके हैं कि आचार्य दयानन्द को पौराणिक ब्राह्मणों से बहुत धोखा मिलता रहा है। इसका एक उदाहरण देना ही पर्याप्त है। आर्य सिद्धान्त भाग १, अङ्क ५ के पृष्ठ ७७ पर पर लिखा है-"यह सबको मालूम है कि श्री० स्वामी जी ने जो संस्कृतवाक्यप्रबोध शिक्षाप्रणाली के सुधरने के लिए बनाया था उसमें कई कारणों से छपने में अशुद्धि रह गई थीं। इसमें बड़ा कारण एक ब्राह्मण लेखक था जो सर्वथा विरुद्ध बुद्धि होकर भी, जीविका के लिए बनारस से स्वामी जी के पास रहता था। स्वामी जी महाराज का स्वभाव था कि अपनी बुद्धि धर्म सम्बन्धी बड़े बड़े विचारों में अधिक कर रखते थे। उक्त ब्राह्मण कुछ २ संस्कृत भी जानता था। बनाते समय अधिक कर संस्कृत वाक्य प्रबोध उससे बनवाया: उसने अशुद्ध किया।"

उपरोक्त लेख पण्डित भीमसेन ने शुद्धभाव से लिखा था क्योंकि वह स्वयम् जानते थे कि वेदाङ्गप्रकाश के प्राय सभी प्रकरण ऋषि दयानन्द ने पण्डित ज्वालादत्त और पण्डित भीमसेन से बनवाए थे। यद्यपि इन लोगों को कई बार अशुद्धिएं करने पर ताड़ना की गई परन्तु ये लोग जो कुछ भी लिखने के लिए बाधित किये गए उसे अपनी योग्यता के अनुसार ही तो लिख सकते थे। ऋषि दयानन्द को धर्म प्रचार के लिए दूर दूर जाना पड़ता था और इस लिए वह अन्तिम प्रूफ़ बहुत कम देख सकते थे। तभी तो 'वेदाङ्गप्रकाश' में भी ऐसी अशुद्धियां रह गई हैं जिनका, ऋषि दयानन्द से अपूर्व वैयाकरण की लेखनी से, रहना असम्भव ही समझना चाहिए यदि सचमुच ऋषि दयानन्द ने आदिम सत्यार्थ प्रकाश लिखवाने से पीछे किन्हीं अंशों में अपने मन्तव्य बदले होते तब भी शायद किसी अंश में आदिम सत्यार्थ प्रकाश से कानों पर हाथ रखना कुछ सार्थक कहा जा सकता, परन्तु जब यह बात निर्विवाद है कि ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों में उस के पश्चात् कुछ भेद नहीं आया तो फिर इस अपूर्व ग्रन्थ से पीछा छुड़ाने के यत्न के स्थान में मैंने यही उचित समझा कि उस में से कुछ रत्न चुन कर पाठकों के भेंट धरूं जिस से उन्हें ऋषि के विचारों को स्पष्टतया जानने का अवसर मिले।

मेरी सम्मति तो यही है कि इस अपूर्व ग्रन्थ का पूर्ण रूप से संशोधित संस्करण परोपकारिणी वा सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा की

ओर से निकल जाय, परन्तु प्रायः आर्य भाइयों की सम्मति शायद यह होगी कि जब नए सत्यार्थ प्रकाश में सब कुछ आ चुका है तो व्यर्थ का परिश्रम क्यों करना? यह भी विचार का एक ठीक अङ्ग है और मेरी लिखी इस पुस्तक से आशा है कि सर्व साधारण का भ्रम भी दूर हो जायगा। परन्तु फिर भी जहां संशोधित सत्यार्थ प्रकाश का नया संस्करण हस्तलिखित पुस्तक के अनुसार छपवाने का विचार है तो परिशिष्ट रूप से आदिम सत्यार्थप्रकाश के कुछ विशेष लेख भी संशोधन करके दे दिये जायं तो कुछ लाभ ही होगा।

यहां मुझे श्री पण्डित पूर्णानन्द जी महोपदेशक आर्य्यप्रतिनिधि सभा पंजाब तथा श्री पण्डित विष्णुमित्र जी आचार्य्य गुरुकुल कुरुक्षेत्र को धन्यवाद देना है, क्योंकि यदि पूर्व महाशय उत्साह दिलाकर मुझे बाधित न करते तो यह ग्रंथ लिखा न जाता, और यदि उत्तर महाशय अपना धन लगाकर ग्रंथ को छपवा न देते तो निर्धन भिक्षुक का लेख उसके पास ही धरा रह जाता। अंत में श्री पण्डित अनन्तराम जी को भी धन्यवाद देता हूं जिन्हों ने ग्रंथ को यथाशक्ति शुद्ध तथा शीघ्र छाप देने से बड़ी सहायता दी है ॥ इति भूमिका ॥

यंत्रालय से मेरे दूर होने के कारण जो कुछ साधारण अशुद्धियां रह गई हैं उन का शुद्धाशुद्ध पत्र दे दिया गया है।

स्थान—गुरुकुल कुरुक्षेत्र,
१ भाद्रपद, सं० १९७४ वि.

श्रद्धानन्दसंन्यासी

नोट—ऊपर का टाइटल देखकर पृ० १६ पर लिखा था कि मूल्य नहीं लिखा है। अब देखने से प्रतीत हुआ कि तीन रुपये प्रति पुस्तक मूल्य ही अंदर के टाइटल पर लिखा है।

* ओ३म् *

आदिम सत्यार्थप्रकाश भी अपूर्व ग्रन्थ है

पांच सहस्र वर्षों के पश्चात् वैदिकधर्म का यदि कोई उद्धारक आचार्य हुआ है तो वह ऋषिदयानन्द ही है। शताब्दियों की, अन्धपरम्परा की, कड़ी सांकल को तोड़ने का पूर्णरीतिसे यदि किसी संशोधक ने साहस किया तो वह मुनिवर दयानन्द ही हैं। भूत क्रिया का प्रयोग *यतिवरदयानन्द* के सम्बन्ध में इसलिये नहीं करना चाहिये कि उन का कार्य और उनकी आत्मिक प्रेरणा अबतक जीवित है और आशा पड़ती है कि चिरकाल तक जीवित रहेगी।

परमहंस श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने भी बड़ेभारी अन्धकारावृत समय में अनात्मवाद की जड़ हिलाने का प्रयत्न किया था। आधिभौतिकवाद ने जब बुद्ध-देव के आचार सङ्गठन सम्बन्धी परिश्रम को भी मलियामेट करके मनुष्यों को पशुजीवन के गहरे गढ़े में ढकेल दिया था, उस समय *आत्मा का राज्य* फिर से स्थापन करना सहल काम न था। शङ्करदिग्विजय को पढ़ने से यह भी पता लगता है कि बौद्ध और जैन आधिभौतिकवाद के अतिरिक्त वैदिकधर्म को कल-ङ्कित करने वाले शाक्त, पाशुपत्य, क्षपणक, कापालिकादिक अन्य मत भी उत्पन्न हो चले थे, जिनके साथ भी शङ्कर स्वामी को युद्ध करना पड़ा। परन्तु शङ्कर स्वामी ने अभीतक जनसाधारण का परिचय उपनिषदों से ही कराया था और अभी विपक्षियों का खण्डन ही किया था कि ३२ वर्षों की आयु में निर्दयी घातकों ने, छल से, उनके प्राण हरण कर लिये। यदि शङ्कराचार्य को भारद्वाज की न्याईं आयुका शेष भाग भी मिलजाता तो निश्चय है कि वह अपना सिद्धान्त-पक्ष स्थापन करके उसका मूल वेदों के प्रमाण से मन्डन करते और तब, शायद, रामानुज, माध्व और निम्बारकादि को टामकटब्बे मारते हुए भटकना न पड़ता। परन्तु ऐसा जाना जाता है कि आर्यजातिको अभी अपने किये के फल भोगने शेष रहते थे, और इसलिये आचार्य का हाथ उनके सिरपर से उठगया।

दो हज़ार वर्षों तक फिर नये से नये मतों की उत्पत्ति होती रही। जिस वाममार्ग को बुद्धदेव के तपोबल ने दबा दिया था उसका फिरसे प्रादुर्भाव हुआ और जिस प्रकार ज्येष्ठ की धूप बादलों के तले दब कर जब फिर से निकलती है तो प्राणधारियों की आंखों में चकाचौंध डालकर उन्हें व्याकुलता से शिथिल कर देती है, इसी प्रकार वाममार्ग ने भी फिरसे सिर निकाल कर जलती हुई भट्टी में नर नारी की आत्म–शुद्धि को भस्म करना आरम्भ करदिया। फिर मतों और सम्प्रदायों की गिनती क्या रह सकती थी! बीसियों सम्प्रदाय जहां आर्य शास्त्रों की ओट में उत्पन्न हुए वहां सैंकड़ों ने शास्त्रोंको फटकार बता कर अपना झन्डा गाड़ दिया। पुनः मुहम्मदी सेना की आर्यवर्त्त पर चढ़ाई हुई और इस आर्योंकी पवित्र भूमि ने, काले, चोरादि का निवास स्थान समझी जाकर 'हिन्दुस्तान' नाम ग्रहण किया। मुहम्मदी मतने *बुतपरस्त हिन्दुओं* को 'ला इलाह-इल्लिल्लाह' का नारा तो सुनाया, परन्तु शनैः शनैः उन्होंने जहां अपने भोग के जीवन का बुरा असर हिंदुओं पर डाला, वहां उन हिंदुओं से भी नाना प्रकार की मनुष्यपूजा और मढ़ीपूजा के साथ मुसलमानों ने अन्धविश्वास के बहुत से हानिकारक पाठ लिए। वैदिकधर्म्म से गिरे हुए सैंकड़ों सम्प्रदायों के अन्दर जहां मुहम्मदी संसर्ग ने आचार भ्रष्टता का प्रचार किया, वहां हिन्दू मगर-मच्छ ने भी इसलाम की सभ्यता के उत्तम अंशको गंगा के दहाने में डुबाने में कुछ कसर न छोड़ी।

इन तीन अन्धकारमय शक्तियों ने ही कुछ कम भयानक अवस्था न बनादी थी और धर्म तथा आचार का कुछ कम नाश न हो चुका था, कि ईसाई मतकी चढ़ाइयां शुरू हो गईं। हिन्दू मुसलमान तो कुछ मिल जुल भी गए थे और मुसलमानों के, हिन्दुओं को अपने अन्दर खींचने के, प्रयत्न कुछ ढीले भी पड़ चुके थे, जब एक चौथी शक्ति का आक्रमण हुआ। ईसाई मत ऐसी मोहिनी सूरत बनाकर भारतवर्ष में प्रविष्ट हुआ कि उसका सामना करना साधारण शक्ति का काम न था। इसलाम ऐशोअशरत में फंस कर बे जान हो चुका था, बौद्ध धर्म को भारतवर्ष से देश-निकाला मिल चुका था और जैन मत में उस समय साहस का चिन्ह तक न था, बेचारे पौराणिक हिन्दुओं का बलबूता ही क्या था कि चूं भी कर सकें; ऐसा ज्ञात होता था कि ईसाई जादूगर सब कुछ हड़प कर जायंगे।

ऐसे समय में सत्य धर्म का प्रचार बड़ी ही टेढ़ी खीर थी। ऋषि दयानन्द ने सम्वत् १९२४ वि० के कुम्भ पर जब अविद्या के घने बादलों की ओट में सत्य धर्म [वेद] रूपी सूर्य को छिपे हुये देखा तो उनका हृदय उमड़ आया और उन्होंने सर्वमेध यज्ञकी पूर्णाहुति डालकर जो बिभूति रमाई तो उन बादलों को छिन्न भिन्न करके ही दम लिया। दयानन्द को चौमुखी लड़ाई लड़नी पड़ी। ईसाई संसार के 'लूथर' का मुक़ाबिला केवल एक रोमन पोप के साथ था, शङ्कराचार्य को दो शत्रुओं [जैन और हिंदू संप्रदाय] से ही हाथापाई करनी थी किन्तु दयानन्द के लिये चौमुखी लड़ाई के सामान सामने थे। पूरे सोलह वर्षों तक यह युद्ध जारी रहा। शङ्कर ने भी १६ वर्षों के युद्ध के पश्चात् ही घातकों के हाथ शरीर त्याग किया और दयानन्द को भी सोलह वर्षों के निरन्तर युद्ध के पश्चात् ही जोधपुर में विष का प्याला पिलाया गया। इन १६ वर्षों में आर्य जाति क्या, देशकी ही काया पलट गई। जिन विषयोंपर विपक्षी विवाद करते थे, १६ वर्षों के पश्चात् उन्हीं के लिये स्वयम् यत्नवान् होने लगे और आज तो दयानन्द के ३४ वें सम्वत् में यह पता लगाना कठिन है कि जैनी, किरानी, कुरानी और पुरानी क्यों आर्यसमाज का विरोध कर रहे हैं जब कि उसके प्रवर्तक के ही चरण चिन्हों पर चलते हुए अपनी आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति के लिये उसी के बतलाए हुए गुर प्रयोग में ला रहे हैं। निस्सन्देह इस—

युग का आचार्य दयानन्द

ही है, और इस लिये उस का प्रत्येक लेख और प्रत्येक आचरण एक विशेष गौरव रखता है। उस के किसी लेख और किसी भी व्यवहार को उपेक्षा की दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। सब से पहला ग्रन्थ जो दयानन्द के नाम से सर्व साधारण के सामने आया, सत्यार्थप्रकाश की पहली आवृत्ति है, जिसे राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० ने सन् १८७५ ई० (सम्वत् १९३२ वि०) में छपवाया था। उस समय तक सिवाय सन्ध्या की तीस सहस्र प्रतियां छपवाकर बंटवाने और भागवत खण्डन की सहस्रों प्रतियां सम्वत् १९२४ वि० के कुम्भ पर तक़सीम कराने के, और वह भी उस समय जब किसी विशेष संगठन का विचार न था, दयानन्द ने कोई विशेष ग्रन्थ नहीं छपवाया था। मौखिक व्याख्यान ही उन के धर्म प्रचार का साधन था।

परन्तु राजा जयकृष्णदास को यह अभीष्ट था कि आचार्य के विचार पूर्णरूप से विद्वानों के सामने रक्खे जावें, जिस से सत्यासत्य के निर्णय में सुभीता होजाय। उस समय आर्यभाषा में बोल चाल आरम्भ किये हुए स्वामी दयानन्द को थोड़ा ही समय हुआ था । सम्वत् १९२४ के कुम्भ के पश्चात् पांच वर्षों तक गंगा के किनारे विचरते हुए वह संस्कृत ही बोलते रहे । यद्यपि मातृभाषा गुजराती थी तथापि उस भाषा में बात चीत करने का कोई अवसर ही नहीं आता था । जब सम्वत् १९२९ के पौष मास में ऋषि दयानन्द ने कलकत्ता नगर में हलचल मचाई उस समय ज्ञात हुआ कि उन के संस्कृतभाषी होने का पौराणिक पण्डित लोग अनुचित लाभ उठाते हैं । कलकत्ते में ऋषि का ईश्वर और धर्म विषय पर एक व्याख्यान २३ फ़ब्रवरी १८७३ ई० को हुआ जिस में स्वामी दयानन्द ने वैदिक प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा का निषेध किया। "इस (व्याख्यान) में पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न भी उपस्थित थे। (व्याख्यान के) अन्त में उन्होंने बंगाली में अनुवाद करके सुनाया, परन्तु ठीक अनुवाद न कर सके, क्योंकि जो बातें उन्होंने कहीं वह स्वामीजी ने नहीं कही थीं । इस बात पर संस्कृत कालिज के विद्यार्थियों ने महेशचन्द्र के विरुद्ध कहा कि जब ऐसा स्वामीजी ने नहीं कहा तो आपने क्यों अपनी ओर से कह दिया। इस पर गोलमाल होकर पं० महेश्चन्द्र चले गए।" *देखो पं० लेखराम का जीवन चरित्र, उर्दू पृ०* १९७ इससे पहले भी स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों का आशय पौराणिक पंडितगण जन साधारण को उलटा ही समझाते थे। इस लिए बाबू केशवचन्द्रसेन ने स्वामी दयानन्द जी से निवेदन किया कि आप देशभाषा में व्याख्यान दिया करें क्यों कि आप संस्कृत में कुछ कहते है और लोग कुछ और ही समझ लेते हैं । इस को "स्वामी जी ने स्वीकार किया" [पृष्ठ १९९] पहले पहल जब स्वामी दयानन्द ने आर्यभाषा में बोलना आरम्भ किया तब जहा मन्त्रों और श्लोकों के अर्थ पुराने पंडितों की शैली पर करते थे वहां भाषा भी गुजराती मिश्रित तथा संस्कृत व्याकरण के अनुसार बोलते थे ।

पं० लेखराम कृत जीवनचरित्र से पता लगता है कि कलकत्ता से लौटकर जब अक्टूबर १९७३ में स्वामी दयानन्द कानपुर पहुंचे तो कुछ कुछ भाषा बोलने लग गए थे। (पृ० २११) ।

जीवनचरित्र के पृ० १४९ पर लिखा है कि कलकत्ते से लौटकर विविध स्थानों में प्रचार करते हुए जब स्वामी दयानन्द पांचवीं बार काशी में पधारे तब "इस बार भाषा बोलनी आरम्भ की·········जी ने मने किया कि आप ऐसा न करें मगर उन्होंने न माना और कहा कि जब हम किसी को कुछ समझाते हैं तो संस्कृत में होने के कारण पंडित लोग सर्व साधारण को उस का उलटा समझा दिया करते हैं, जिस से हम को बहुत कष्ट होता है । इस लिए आज पिछले पहर से हम भाषा बोलेंगे, सो पिछले पहर हम (साधु जवाहिरदास) और हरिवंशलाल मौजूद थे । उन्होंने भाषा बोलने का यत्न किया परन्तु सैंकड़ो शब्द बल्कि फ़िक़रों के फ़िक़रे संस्कृत के बोल जाते थे। भाषा बिल्कुल न आती थी।"

परन्तु फिर भी ऋषि दयानन्द ने अपना यत्न नहीं छोड़ा और बराबर अभ्यास करते रहे । सं० १८७४ के जुलाई मास की पहली तारीख़ को वह प्रयाग पहुंचे और सेप्तेम्बर के अन्त तक (पूरे तीन मास) वह उसी स्थान में रहे । वहां पर ही श्रीराजा जयकृष्णदास सी. एस. आई. के प्रबन्ध के अनुसार सत्यार्थप्रकाश लिखवाया गया । जीवनचरित्र के पृ० २२३ पर लिखा है— "स्वामी जी ने अलाहाबाद में माह सेप्तेम्बर के आख़ीर तक रहकर राजा साहेब को सत्यार्थप्रकाश लिखवा दिया और खुद बलदेवसिंह के आने के ७, ८ रोज़ बाद ब सवारी रेल रवाना जबलपुर हुए।"

यह ग्रन्थ ऋषि दयानन्द का लिखवाया हुआ है, लिखा हुआ नहीं है। और लिखवाया भी पुस्तक के क्रम से नहीं प्रत्युत व्याख्यानों की रीति से है। हमारी तरह जिन सज्जनों ने आचार्य दयानन्द के धर्मोपदेश सुने है वे साक्षी देंगे कि संशोधित दूसरा सत्यार्थप्रकाश पढ़कर जहां उन्हें एक दार्शनिक आचार्य की रचना का भान होता है वहां आदिम सत्यार्थप्रकाश को पढ़ने समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे वर्त्तमान समयके सबसे बड़े मूर्त्ति भञ्जक का सिंहनाद स्पष्ट सुन रहे हैं। वास्तव में यह ग्रन्थ व्याख्यानों का ज्यों का त्यों उल्लेख हैं जो '*सत्य पूतं वदेद् वाचं*' की मन्वोक्ति के अनुसार अवधूत दयानन्द ने वज्र की न्याई जनता के अंदर फेंक दिये थे।

ऊपर लिखा जा चुका है कि ग्रन्थ लिखवा कर आचार्य दयानंद धर्मप्रचारार्थ जबलपुर चले गए। वहां से, मार्ग में एक दिन नाशिक ठहरकर २६ अक्तू-

बर को मुम्बई नगर में पहली बार प्रवेश किया । ३० नवम्बर तक यहां अन्य कुरीतियों तथा अत्याचारों के खण्डन के साथ बल्लभ सम्प्रदाय का बड़ा बलपूर्वक खंडन हुआ । गट्टूलाल सरीखे बड़े २ आचार्य सामने आने से कन्नी कतराते फिरे और जब कोई शास्त्रार्थ के लिये सन्नद्ध न हुआ तो गुजरात काठियावाड़ पर धर्मयुद्ध के लिये चढ़ाई करदी । दिसेम्बर १८७४ का शेष भाग तथा जनवरी १८७५ का लगभग सारा मास अहमदाबाद राजकोटादि में धर्म का प्रचार करके २९ जनवरी स० १८७५ ई० को फिर मुम्बई लौट गये ।

स्वामी दयानन्द उधर धर्म प्रचार कर रहे थे और सत्यार्थप्रकाश काशी के स्टार-प्रेस (Star Press) में, म० हरिवंशलाल जी के प्रबन्ध से, छप रहा था । अहमदाबाद से एक पत्र २१ जनवरी सं० १८७५ के पश्चात् का लिखा हुआ मिला जिस में लिखा है—"आगे सत्यार्थ प्रकाश कितने अध्याय तक छपा । जितना छपा हो तितना राजा जयकृष्णदास के पास भेजदो; जल्दी छापो । यहां बहुत से लोग लेने को कहते हैं; इसके बिना बहुत हरक्कत है ।" (जीवन चरित्र पृ० २३४) ।

इस बार जून मास के अन्त तक स्वामी दयानन्द मुम्बई रहे और १० अप्रेल सं० १८७५ के दिन आर्यसमाज की भी स्थापना की । इसी बार कमलनयनाचार्य को भी शास्त्रार्थ के लिए लाया गया जो बिना शास्त्रार्थ किये ही सभा से उठ कर पधार गये और बल्लभ मतावलम्बी बहुत से सज्जनों ने सनातन वैदिक धर्म की शरण ली । फिर जुलाई के आरम्भ से अगस्त का बहुत भाग पूना में व्यतीत किया जहांके १५ प्रसिद्ध व्याख्यान उपदेश मञ्जरी नाम से उर्दू भाषा तक में छप चुके हैं । फिर लौट कर स्वामी दयानन्द ने सं० १८७५ मुम्बई में ही समाप्त किया ।

इस प्रकार न तो उन्हों ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रूफ़ ही देखे और नहीं पुस्तक छपकर उनके पास पहुंची । यही नहीं कि स्वामी दयानन्द ने उस पहिले ग्रन्थ के प्रूफ़ नहीं देखे प्रत्युत जो लेख उन्होंने लिखवाया था उस कोभी स्वयं देख कर उसका संशोधन न कर सके । उस ग्रन्थ के टाइटिल के दूसरे पृष्ठ पर पहिले निवेदन में राजा जयकृष्ण दास ने छपवाया है--" यह पुस्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मेरे व्यय से रची है और मेरे ही व्यय से यह मुद्रित हुई है । उक्त स्वामीजी ने इसका रचनाधिकार मुझको दे दिया है" इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजा साहिब ने जो पंडित लेखक नियत किये उन्हीं के वेतनादि में जो

व्यय हुआ उसकी ओर ही संकेत है। बस यह स्पष्ट सिद्ध है कि *स्वामी दयानन्द ने जो अपने व्याख्यान पंडितों को लिखवा दिये, और जिन्हें स्वयम् पढ़ वा सुन कर उनके संशोधन का भी अवसर न मिला, और जिनके छपतेहुए प्रूफ भी देखने उन्हें न मिले, और जिनके लिखने, छपवाने और शोधने वाले वे पंडित थे जिनकी आजीविका पर स्वामी दयानन्द कुठाराघात कर रहे थे,* वही आदिम सत्यार्थ प्रकाश है।

जो ग्रन्थ ऐसी प्रतिकूल अवस्थाओं में तय्यार हुआ हो उसे *अपूर्व* मैंने क्यों लिखा ? इस लिए कि *स्वामी शंकराचार्य के वेदान्त भाष्य के पश्चात् यदि किसी ग्रन्थ ने भारतवर्ष में भौंचालवत् हल चल डालदी तो वह यही ग्रन्थ है।* शंकर स्वामी को दो मुखी लड़ाई लड़नी पड़ी। स्वामी दयानन्द को चौमुखा ही नहीं, चहुंमुखा युद्ध करना पड़ा। इसी लिए स्वामी दयानन्द और उनके मिशन के शत्रु भी अधिक संख्या में थे। ये सब कुछ होते हुए भी मेरी सम्मति में

आदिम सत्यार्थ प्रकाश की उपयोगिता को विरोधी कम न कर सके

ऋषि दयानन्द के जीवन काल में ही जो पचास के लग भग आर्य समाज स्थापित हुए और जो सहस्रों व्यक्तियों ने सनातन वैदिक धर्म की शरण ली वह इसी 'आदि ग्रन्थ' का चमत्कार था; फिर आश्चर्य होता है कि इसको आर्य-पुरुषों ने उपेक्षा की दृष्टि से क्यों देखा। असल बात यह है कि जब पहले सत्यार्थप्रकाश की छपी हुई सब प्रतियां समाप्त हो गईं और संशोधित सत्यार्थ-प्रकाश छप कर जनता के हाथों में चला गया तो फिर पुराने की ओर दृष्टि करना केवल उन पुरुषों का ही काम था जिनकी ऐतिहासिक अन्वेषण में कुछ रुचि हो। सो ऐसे पुरुष उस समय आर्यसमाज में थे नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि जिन पंडितों ने आदिम सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द के व्याख्यान रूप में, लिखा था उन्होंने कुछ स्थानों में उक्त स्वामीजी के आशय के विरुद्ध भी लिख दिया। इन, ग्रन्थकर्त्ता के आशय से विरुद्ध, अशुद्ध लेखों के दो ही कारण हो सकते हैं। या तो लिखने वाले पंडित ऐसे मूर्ख थे कि स्वामीजी के आशय और शब्दों को ठीक न समझ सकते थे, अथवा उन्होंने कुटिलता से कुछ अपने मतलब की बातें डाल दीं और ऋषि दयानन्द ने उदारभाव से उन पंडितों को कुटिल न मान कर उन्हें मूर्ख ही मान लिया।

सम्वत् १९३२ विक्रमी के मध्यभाग में सत्यार्थप्रकाश बिकने लग गया। सम्वत् १९३४ के किसी मास में ऋषि दयानन्द एक स्थान में व्याख्यान देते हुए मुर्दोंके श्राद्ध का खन्डन कर रहे थे। एक ब्राह्मण हाथ में सत्यार्थ-प्रकाश लिए हुए शोर मचाने लगा और बोला--" यहां क्या कह रहा है और अपने ग्रन्थों में क्या लिखता है! यह अन्धेर है " इत्यादि। लोग इसे बल से बैठाने लगे परन्तु ऋषि ने उसे अपने पास बुला लिया और पुस्तक लेकर देखी तो उसे कहा-" महाशय! तुम ठीक कहते हो। लेखकों ने मेरे आशय के विरुद्ध लिखकर छपवा दिया है " और उसी स्थान से एक विज्ञापन लिखकर भेजा जो सम्वत् १९३५ के आरम्भ में ही यजुर्वेद भाष्य के पहिले अंक पर छप गया था। उसमें इतना ही लिखा है कि--" जो सत्यार्थ प्रकाश ४२ पृष्ठ और २५ पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गए उनका तो अवश्य करे। तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ मरे भए पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है *सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छपवाया गया है*" परन्तु हम लोगों के लिये विचारणीय यह है कि जब पं० महेशचन्द्र न्याय-रत्न सी. आई. ई, (C I E) से प्रसिद्ध पंडित कलकत्ता से शिक्षा प्रधान नगर में ऋषि दयानन्द के व्याख्यान का बंगीयभाषा में अनुवाद करते हुए श्रोतागण की आंखों में धूल झोंकने से न टले, तो साधारण पंडितों का लोभ-वश कुटिलता से एक प्रसिद्ध संशोधक के विचारों को उलटा लिख देना कुछ आश्चर्य जनक घटना नहीं है।

दूसरा विषय जिसे ऋषि दयानन्द के आशय से विरुद्ध उक्त ग्रन्थ में पंडितों ने लिखा वह यज्ञों में पशुहिंसा का विधान है। यत: वह विषय स्पष्टतया ऋषि दयानन्द के सामने चिरकाल तक न आया और उनका ध्यान उस ओर खिंचा तो उस समय जब कि द्वितीयावृत्ति के लिए सत्यार्थ-प्रकाश का संशोधन करने लगे, इसलिये उसके विषय में उन्होंने कोई विशेष विज्ञापन छपवाने की आवश्यकता न समझी।

ऋषि दयानन्द की मृत्यु के बहुत काल पीछे पौराणिक धर्ममहामण्डल स्थापित हो गया और दक्षिणा के लोभ से बीसियों पंडित आर्यसमाज के

सामने खण्डन मण्डन के लिए प्रवृत्त हुए, उस समय पुराने सत्यार्थप्रकाश को उन लोगों ने अपने हाथों में विशेष शस्त्र बनाकर यह घोषणा आरम्भ कर दी कि स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को भी आर्य लोगों ने तिलांजलि दे दी है और इस लिये वर्तमान आर्य समाजियों की कोई बात भी मानने के योग्य नहीं है। आर्य पुरुष अब तक पौराणिक पंडितों के इस आक्षेप का यही उत्तर देते रहे कि पुराना सत्यार्थप्रकाश ऋषि दयानंद ने उस समय लिखा था जब कि आर्य समाज स्थापित नहीं किया था। आर्यसमाज की स्थापना करने के पश्चात् उन्होंने संशोधित सत्यार्थ प्रकाश बनाया; आर्य समाज उसी को उनका स्वमत वा सिद्धांत मानता है। आर्य समाज की ओर से यह उत्तर तो ठीक है, परन्तु इसी उत्तर तक समाप्ति नहीं होनी चाहिये थी प्रत्युत उससे आगे भी कुछ चलने की आवश्यकता थी।

पुराने सत्यार्थप्रकाश की बुनियाद पर दो प्रकार के आक्षेप ऐसे होते हैं जिनका उत्तर दिया जाना ऋषि दयानंद के गौरव को स्थिर रखने तथा आर्य समाजस्थ नेताओं तथा विद्वानों के सदाचार की रक्षा के लिए आवश्यक है। पहली प्रकार का आक्षेप यह है कि ऋषि दयानंद ने पहला सत्यार्थ प्रकाश छपने के पश्चात् अपने कुछ सिद्धांत बदल लिए, परंतु अपने उस मत परिवर्तन के विषय की स्पष्ट घोषणा नहीं दी। दूसरी प्रकारका आक्षेप यह है कि आर्यसमाज के नेताओं ने पहले सत्यार्थ प्रकाश के मन्तव्यों को बदल डाला, परन्तु संसार को यही धोखा देते रहे कि परिवर्तित सिद्धांत ऋषि दयानंद के ही हैं।

पौराणिक मत के प्रचारकों के इन सब, आक्षेपों को, इस समय पं० कालूराम शास्त्री नामक एक व्यक्ति ने स्पष्टरूप से एक स्थान में करके आदिम सत्यार्थ-प्रकाश को ज्यों का त्यों छाप दिया है। इस लिए पौराणिक पंडितों के सारे आक्षेपों का उत्तर एक ही बार बड़ी उत्तम रीति से दिया जा सक्ता है। और यह उत्तर बहुत पहिले दिया जाना चाहिये था जिससे पहिले छपे सत्यार्थप्रकाश के बहुत से उत्तम लेखों से आर्य जनता लाभ उठा सकती।

हम इस ग्रन्थ में पहले पं० कालूराम के आक्षेपों की पड़ताल करेंगे। उसके पश्चात् यह सिद्ध करेंगे कि जिन पौराणिक पण्डितों ने कालूराम को इस प्रकार की कल्पनायें करने में सहायता दी है, उन्हीं पंडितों ने कुछ अन्य विषयों में भी

अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा की थी, और अन्त में कुछ लाभदायक लेख उक्त सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत करके पौराणिक धर्मावलम्बी भाइयों से प्रार्थना करेंगे कि यदि कालूराम का ग्रन्थ खरीदें तो उस के साथ इस ग्रन्थ को भी अवश्य पढ़लें जिस से उन्हें बहुत विषयों में उन्नति के मार्ग का अनुसरण करने का अवसर मिल जाय।

कालूराम की विचित्र कल्पनायें।

पहली कल्पना—यह है कि "जिस समय यह सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाजियों को दिखलाया जावेगा उस समय आर्यसमाजी फौरन कह देंगे कि यह इबारत पं० कालूराम ने मिलादी होगी" अपनी आरम्भिक सूचना में इन्होंने इसी पर बड़ा बल दिया है और यह लिखकर कि आर्य लोग चालाकी से बात को उड़ाने लगते हैं अपने सनातनी भाइयों को सम्मति दी है कि आर्यो से यह कहदो कि " जब तक कोई आर्यसमाजी मेल साबित करके प्रति शब्द १०) इनाम न ले लेगा तब तक यह नहीं माना जा सकता कि कालूराम ने इस में मिलाया है" फिर लिखते हैं—"इस पर अड़ जाना चाहिये चाहे वह कितनी ही कोशिश करे कुछ भी कहे किन्तु तुम यही कहो कि मिलाने का सबूत दो वह कुछ भी नहीं दे सकेगा।" इस सूचना से पहले के चार पृष्ठ भी सनातनी प्रचारकों आदि की साक्षी से भर दिए हैं कि कालूराम ने अक्षरशः पहले सत्यार्थप्रकाश की ठीक नक़ल छापी है। जब नक़ल ठीक छापी गई है तो कोई आर्यसमाजी क्यों कहेगा कि कोई "इबारत कालूराम ने अपनी तरफ़ से मिलादी होगी।" यह तो वही मसल है कि सूत न कपास कोरी से लठ्ठम लठ्ठा। प्रतिलिपि जब ठीक है तो कोई ऐसा विवाद कर ही नहीं सकता। तब कालूराम ने ११ व्यक्तियों से साक्षी मांगने और उन्हें पहले सत्यार्थप्रकाश का अपनी छपाई पुस्तक के साथ मिलान करने का कष्ट क्यों उठाया और उन सज्जनों का भी समय क्यों व्यर्थ नष्ट किया? इस का कारण है। जिस वकील का मुक़द्दमा कमज़ोर होता है वह पहले कुछ अशुद्ध कल्पना करके अपने विरोधी वकील को बुरा भला कहने लगता है। परन्तु जब आगे चलकर मुक़द्दमे का पोल खुल जाता है तो ऐसी कल्पना स्वयम् उस वकील के विरुद्ध पड़ती है।

अच्छा तो यहां प्रथम ५ पृष्ठ (चार पृष्ठ साक्षियों की सम्मतियों के और पांचवां पृष्ठ सूचना वाला) तो व्यर्थ हैं, क्योंकि कोई आर्य समाजी यह

कहेगा ही नहीं कि इस छपे हुए ग्रन्थ में कालूराम ने कोई "इबारत अपनी तरफ़ से मिलादी होगी" परन्तु यह कहने का प्रत्येक आर्य को अधिकार है (यदि वह सिद्ध कर सके) कि सं० १८७५ ई० के छपे सत्यार्थप्रकाश के लिखने वाले पौराणिक पंडितों ने कुटिल नीति से लिखाने वाले ग्रन्थकर्त्ता के मन्तव्य के विरुद्ध लिख और छपवा दिया।

दूसरी कल्पना—कालूराम जी की यह है कि "दूसरा प्रश्न उठावेगा कि हम इस सत्यार्थप्रकाश को ही नहीं मानते इस के ऊपर यह उत्तर देना चाहियें कि इससे हम को कोई मतलब नहीं है तुम मानो या न मानो किंतु स्वामी दयानन्द जी इस को मानते थे इस के ऊपर यदि विचार चल जावे तो विचार नामक लेख को विचार कर उस की बातों को प्रमाण में दो समाजी की चाल बंद हो जावेगी और उस को यह सत्यार्थप्रकाश मानना होगा।" यह कल्पना बड़ी विचित्र है। सत्यार्थप्रकाश के मानने वा न मानने से न जाने क्या तात्पर्य है। यह तो सभी आर्य मानते हैं कि पहला सत्यार्थप्रकाश स० १८७४ ई० के जुलाई से सेप्तेम्बर मास तक प्रयाग में स्वामी दयानंद ने राजा जयकृष्णदास के कहने पर लिखवा दिया था। उक्त ग्रन्थ को सत्यार्थ का प्रकाशक स्वामी दयानंद ने भी कहा था और आर्य लोग भी ऐसा ही मानते हैं, और हमारा निश्चय हैं कि जो निष्पक्ष सज्जन कालूराम का छपाया ग्रन्थ ख़रीद कर पढ़ेंगे उनको भी उस से सीधे धर्म मार्ग का ही उपदेश मिलेगा। परन्तु आर्यों का केवल यह कहना है कि जहां जहां पौराणिक पंडितों ने ऋषि दयानन्द के सिद्धांत के विरुद्ध लेख लिख दिये हैं उन्हें बीच में से निकाल देना चाहिए। और ऐसा ही ऋषिवर स्वामी दयानंद ने दूसरा सत्यार्थप्रकाश तय्यार करते समय कर भी दिया है।

तीसरी कल्पना—यह है कि श्रीराजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० आर्यसमाजी न थे; अपनी भूमिका में कालूराम जी लिखते हैं—"कई एक सज्जनों का विचार होगा कि राजा साहब आर्यसमाजी होंगे किंतु राजा साहब के लेख से विदित होता है कि वे आर्यसमाजी नहीं थे *किन्तु सनातनधर्मी थे*" यह कल्पना किस आधार पर है? इस आधार पर कि "उन्होंने जो इतना रुपया खर्च किया उस का अभिप्राय यह था कि सत्यार्थप्रकाश के विषयों पर निष्पक्ष होकर

विचार किया जावे कि वास्तव में सत्य क्या है इसी बात को राजा साहब ने निवेदन नं० ३ में लिखा है। ''

यह समझ में नहीं आता कि कालूराम जी की किस नई कल्पना की पुष्टि इस बात के मान लेने से होती है कि राजा जयकृष्णदासजी आर्य समाजी न थे प्रत्युत सनातन धर्मी थे ! परंतु इस कल्पना के लिए कोई लिखित प्रमाण वा साक्षी न देते हुए उन्होंने केवल राजा साहब के निवेदन नं ३ की ओर ही संकेत किया है; परंतु उस निवेदन के किसी शब्द से भी यह विदित नहीं होता कि वह सनातन धर्मी थे। उन्होंने लग भग उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जिन को संशोधित सत्यार्थप्रकाश सर्व साधारण के सामने रखते हुए, ऋषि दयानंद ने दोहराया है । पाठकों के सुभीते के लिए दोनों निवेदनों को आमने सामने रक्खा जाता है।

राजा साहब का निवेदन।

इस पुस्तक के पाठकों से मेरी यह विनय पूर्वक प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के छपवाने से मेरा अभिप्राय किसी विशेष मत के खण्डन मण्डन करने का नहीं किन्तु इस का मुख्य प्रयोजन यह है कि सज्जन और विद्वान् लोग इसको पक्षपात रहित होकर पढ़ें और विचारें और जिन विषयों में उन की दयानन्द स्वामी के सिद्धान्तों से सम्मति न हो उन विषयों में अपनी अनुमति प्रबल प्रमाण पूर्वक लिखें जिस से धर्म का निर्णय और सत्यासत्य की विवेचना हो मुख से शास्त्रार्थ करने में किसी बातका निर्णय नहीं होता। परन्तु

ऋषि दयानंद की भूमिका।

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य २ अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उस को सत्य और जो मिथ्या है उस को मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्यअर्थ का प्रकाश समझा है। ...... विद्वान्आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।

लिखने से दोनों पक्षों के सिद्धांत ज्ञात हो जाते हैं और सत्य विषय का निर्णय होजाता है इसलिए आशा है कि सब पण्डित और महात्मा पुरुष इसकी यथावत् समालोचना करेंगे और यह न समझेंगे *कि मुझको किसी विशेष मत की निन्दा अभिप्रेत हो* । छापने में शीघ्रता के कारण इस ग्रन्थमें बहुत अशुद्धियां रह गई हैं आशा है पाठक गण इस अपराध को क्षमा करेंगे" ।

फिर उत्तरार्ध की अनुभूमिका में

सब मतों में चार मत अर्थात् वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है...........अधिक परिश्रम न हो इस लिए यह ग्रन्थ बनाया है । जो २ इस में सत्यमत का मण्डन और असत्य मत का खण्डन लिखा है वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है । .... पक्षपात छोड़कर इसको देखनेसे सत्याऽसत्य मत सबको विदित होजायगा पश्चात् सबको अपनी २ समझ के अनुसार सत्यमत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा" ।

न्यायपरायण पाठक देखेंगे कि यदि किसी विशेष मत की निन्दा अभिप्रेत न होने के कारण राजा जयकृष्ण दास सनातनधर्मी थे तो " पक्षपात छोड़कर ....अपनी २ समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण और असत्य मत को छोड़ने" के लिए सुभीता देने वाले स्वामी दयानन्द क्यों सनातन धर्मी न माने जायं । और ये दोनों महानुभाव थे भी सच्चे सनातन धर्मी क्योंकि वे स्वतः-प्रमाण वेद के सामने आधुनिक अनृत भागवतादि पुराणों की कुछ हकीकत नही समझते थे ॥

यह तो स्पष्ट हो गया कि कालूरामीय परिभाषा के अनुसार राजा जयकृष्ण-दास सनातन धर्मी न थे । परन्तु क्या वह आर्य समाजी न थे ? इसका निर्णय ऋषिदयानन्द के जीवन वृत्तान्त से लग सकेगा, जिससे कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

[१] २० दिसम्बंर, सन् १९७३ई०को स्वामीदयानन्द छलेसर पहुंचे-"बहालत क़याम छलेसर राजा जयकृष्णदास साहब बहादुर, सी. एस. आई. डिपटी कलेक्टर स्वामी जी के दर्शन को पधारे और वाइदा लेकर वापिस चले गए" ।

(जीवन चरित्र, पृ०२१३)

[२] २६दिसम्बर, सन् १८७३ ई० को "स्वामी जी महाराज अलीगढ़ में बाग़चाऊलालमें, मुत्तसिल अचल तालाब के ठहरे और राजा जयकृष्णदास साहब के मेहमान हुए" ।

[३] प्रयाग में तो तीन मास राजा साहेब के ही अतिथि थे और उनकी प्रेरणा से ही सत्यार्थ प्रकाश पण्डितों को लिखवाते रहे ।कुमार ज्वालाप्रसाद बी.ए. श्रीस्वामी जी के शिष्य थे, और यह राजा साहेब के पुत्र थे । पृ० २२२ पर लिखा है—"स्वामीजीने पं० ज्वालाप्रसाद बी. ए. फरज़न्द (पुत्र) राजा जयकृष्णदास साहब, सी. एस. आई. को हाज़रीन मजलिस के सामने सन्ध्या के पढ़ने के लिए कहा जो कि उस वक्त क़ल्मी कापी थी ।" इसी समय के लेखों से प्रतीत होता है कि कुमार ज्वालाप्रसाद प्राय: स्वामी जी के पत्र व्यवहार का काम किया करते थे ।

[४] पृ० २६२ के पढ़ने से पता लगता है कि जनवरी, सं० १८७७ के लार्ड लिटन के दरबार के समय स्वामी दयानन्द के केम्प में जहां और आर्यपुरुष उतरे थे वहां श्री राजा जयकृष्णदास भी वहीं ठहरे हुए थे ।

[५] जीवन चरित्र के पृ० ४३१ से ४३७ तक मुरादाबाद में ऋषि दयानन्द के तीन बार के प्रचार का हाल छपा है । उसमें से कुछ उद्धरण इस प्रश्न पर बहुत प्रकाश डालेंगे —

" पहली बार सन् १८७६ ई० में यहां तशरीफ़ लाए और राजा जयकृष्ण दास साहब बहादुर, सी. एस. आई के बंगले में, जो हवेली के बाग़ में है । उतरे यह वही राजा साहब हैं जिनकी सहायता से सत्यार्थ प्रकाश बार अव्वल तबा हुआ, और जिन्होंने बहुत से उत्तम पुस्तक विलायत जर्मन से मंगाकर स्वामी को अवलोकनार्थ दिए थे । ……… व्याख्यान के नोटिस कुमार परमानन्दजी की तरफ़ से दिये गए" ।

(कुमार परमानन्दजी राजा साहब के बड़े पुत्र का नाम था) "स्वामीजीने पांच छः दिन सायंकाल को राजा साहेब की हवेली की कोठी के चबूतरे पर कई उमदा मज़ामीन पर व्याख्यान दिए ।"

" इसी दफा स्वामीजी का पादरी पारकर से कई दिन तक प्रातःकाल तहरीरी मुबाहिसा होता रहा जो कुमार परमानन्द जी के पास (पत्र) होंगे ।"

मुरादाबाद में तीनों बार राजा साहेब के मकान पर उतरते रहे । तीसरी बार "फिर २० जुलाई, सन् ७९ ई० को राजा साहब के मकान पर हवन कराने और समाज बनाने की सलाह हुई । बहुत सी सामग्री मंगाई गई, और मोहन भोग भी ज़्यादा तय्यार किया गया । बाग़ की रविशपर वेदी बनाई गई । इत्तफ़ाक़ से उस वक्त बारिश ज़्यादा होने लगी । पांच सौ आदमियों का मजमा था । अमीर ग़रीब सब तरह के लोग जमा थे । स्वामीजीने फ़रमाया कि ईश्वर की मर्ज़ी ऐसी ही थी जो बारिश कम नहीं हुई और देर बहुत होगई है । इनमें बहुत से...... ऐसे भी हैं जो अपने घर पर अब तक भोजन कर चुके होते । बस मुनासिब है कि थोड़ा थोड़ा मोहनभोग सब लोगों को देदो और कुछ बाज़ार से पूरी कचौरी मंगाकर सबको खिलादो और बन्द मकान में थोड़ी सामग्री का हवन करदो । चुनाचे ऐसा ही किया गया.......... उसी रोज़ समाज क़ायम किया गया ।" उस आर्य समाज के अधिकारियों में श्रीराजा जयकृष्णदास जी के पुत्र *कुमार परमानन्द जी मन्त्री नियत किये गए* ।

सन् १८९५ ई० के (शायद) दिसम्बर मास में जब ग्रन्थ लेखक बरेली आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर गया था तो उसके व्याख्यान में श्रीराजाजयकृष्ण दासजी पधारे थे । आर्यप्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रांत के वार्षिक अधिवेशन में भी भाग लेते रहे और संयुक्त प्रांत के आर्य पुरुषों को जगाकर वैदिक जीवन की ओर उनकी रुचि दिलाने के लिए प्रेरणा की ।

अब विचार शील पाठक स्वयम् निश्चय कर लेंगे कि श्रीराजा जयकृष्णदास जी आर्य सामाजिक सनातन धर्मी थे वा पौराणिक सनातनिस्ट ।

चौथी कल्पना—यह है कि सत्यार्थ प्रकाश की नई संशोधित आवृत्ति, स्वामी दयानन्द के मरने के पश्चात् सम्वत् १९४१ विक्रमी में, आर्य समाजियों ने स्वामी दयानन्द के सिद्धांतों में हेर फेर करके छपवादी । कोई "अधिकार व

रहने पर भी समाजियोंने सत्यार्थप्रकाश की काट छांटकर उसका दूसरा कलेवर बना डाला।" वह काट छाट किन विषयों में हुई इस पर कालूरामजी लिखते हैं–"स्वामी दयानन्द सायं प्रातः मांस का हवन करना मानते हैं और पितरों को मांस के पिंड देना बैल आदि नर पशुओं का मारना तथा गौहत्या करना स्वर्ग और स्वर्ग वासी देवताओं का मनाना अपना सिद्धान्त लिखते हैं किन्तु समाज के सत्यार्थ प्रकाश में इसका विरोध है........." इसलिए "स्वामी दयानन्द के सिद्धांत पब्लिक को दर्शाने के लिए *लोकोपकारक की दृष्टि से*. आज हम प्रथम आवृत्ति सत्यार्थ प्रकाश को छपवा पब्लिक के सन्मुख रखते हैं कि वह सत्यासत्य का निर्णय करे। इस सत्यार्थ प्रकाश के छपवाने का मतलब लाभ उठाना नहीं है किन्तु पब्लिक को फायदा पहुंचाना है" और लाभ न उठाने का बड़ा सबूत यह है कि जहां इस से बड़े आकार वाले ६३६ पृष्ठ के सत्यार्थ प्रकाश का मूल्य १) है वहां कालूराम के ४०१ पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य सर्व साधारण के लिए ३) नियत किया गया है। क्योंकि यद्यपि ग्रन्थ के टाइटिल पर कोई मूल्य नहीं लिखा परन्तु जिस महाशय ने हमें समालोचनार्थ पुस्तक दी उसने ३) में एक प्रति ख़रीदनी बतलाई और सर्व साधारण का फ़ायदा इस से जो होगा वह कालूरामजी की आशा से शायद विरुद्ध ही सिद्ध हो। कालूरामजी ने यह ग्रन्थ सनातन धर्मियों को आर्यसमाज से घृणा दिलाने के लिए छपवाया है, परन्तु जब ग्राहकों ने शान्ति से एकान्त देश में बैठ कर इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा तो उनमें से बहुतों के हृदय पौराणिक अंधविश्वासों से हटकर वैदिक सचाइयों को ग्रहण करने लग जायंगे।

(नोट—पं० कालूराम के लेखों मे विराम कहीं मुश्किल से आता है, इस लिए उनका लेख उद्धृत करते हुए ज्यों का त्यों रख दिया है)

कालूरामजी ने अपनी चौथी अर्थात् अंतिम कल्पना की पुष्टि में छः हेतु दिए हैं जिनकी पड़ताल नीचे की जाती है।

कालूराम जी के विचार का अपचार।

पहला विचार—"आर्य समाज लाहौर के सेक्रेटरी महात्मा धर्मपाल अपने उर्दू में छपवाए हुए सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में यह लेख देते हैं कि स्वामी दयानन्द का बनाया हुआ सत्यार्थप्रकाश तो प्रथमावृत्ति ही है और द्वितीयावृति

स्वामी दयानन्द का बनाया नहीं किन्तु आर्यसमाज का बनाया है जब एक आर्य-समाजी अपने मुख से कहता है और अपनो लेखनी से लिखता है इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा फिर आर्य समाजी भी कैसा कोई साधारण पुरुष नहीं किन्तु लाहौर समाज का मन्त्री ही नहीं किन्तु जिसने दो लाख आर्यों से महात्मा होने की डिगरी पाई है ऐसे प्रतिष्ठित पुरुष की साक्षी ही बहुत है जब समाज का एक मान्य प्रतिष्ठित पुरुष इस बात को अपने लेख में लिखता है तब फिर दूसरे साक्षी की कोई भी आवश्यकता नहीं।'

समीक्षा—मुसलमान अब्दुल ग़फ़ूर पहले देवसमाजियों का चेला था। वहां से किसी कारण अलग हुआ तब आर्यसमाज गुजरांवाला ने उसका प्रवेशसंस्कार कराके उसका नाम धर्मपाल रक्खा। उसके पश्चात् पहले उसे संस्कृत पढ़ाने का यत्न किया गया परन्तु शास्त्रों में परिश्रम तो लोहे के चने चबाने के तुल्य था; उसने महम्मदियों के खण्डन में पुस्तकें लिखनी आरम्भ करदीं। इस पर आर्य्यों ने ही क्या पौराणिक हिन्दुओं तक ने उसे सिर पर उठा लिया। लाहौर में (अनारकली और बच्छोवाली) दो आर्य्य समाज हैं, उन में से किसी आर्यसमाज का वह कभी मन्त्री नहीं बनाया गया। हां स्वर्गीय डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज ने आर्यसमाज से अलग एक आर्यधर्मसभा (आर्यसमाजियों को वैदिक कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिये) खोली थी, उन्होंने इस पर बहुत विश्वास करके न केवल अपनी सभा का इसे मन्त्री ही बनाया प्रत्युत इसे अपने घर में रक्खा। वहां यह एक विधवा स्त्री को देवसमाज से निकाल लाया, जिसका १२ वर्ष की आयुका एक लड़का था। डाक्टर जी को इस के व्यवहारसे इस के आचरणों पर सन्देह हुआ। यह उस स्त्री को अपनी बहिन कहता था और डाक्टर जी इसका उस के साथ अनुचित सम्बन्ध बतलाते थे, इस लिए इसे उन्होंने अपनी सभा से और अपने मकान से भी अलग कर दिया। तब इस ने डाक्टर जी तथा उनके मित्रोंके विरुद्ध गन्दे लेख लिखे, जिनकी बुनियाद पर डाक्टरजीने इसपर फौजदारी का मुक़द्दमा चलाया और यह ५००) जुरमाना देकर छूटा। ऐसे समयमें इसने आर्यसमाज को हानि पहुंचाने के विचार से पुराने सत्यार्थप्रकाश का उर्दू अनुवाद छपवाया था। यह अब फिर अब्दुल ग़फ़ूर है और उसी स्त्री के साथ, जिस को भगिनी कहता था, इस ने अपने ढंग का व्याह कर लिया है। तब सब के सामने डाक्टर जी की बात प्रमाणित होगई।

कालूराम जी को स्वयम् यह बात खटकी और आपने लिखा है कि अब चाहे वह आर्यसमाज से अलग होगया (अलग क्या हुआ निकलने के लिए बाधित हुआ) परन्तु जिस समय का कालूराम ने प्रमाण दिया है वह "पूजनीय दशा में था"। कालूरामजी की यह कल्पना ठीक नहीं क्योंकि जिस समय उसने पुराने सत्यार्थ प्रकाश का उर्दू तर्जुमा छपवाया था, उस समय वह आर्यसमाज का प्रसिद्ध शत्रु हो चुका था। और उसका उद्देश्य उस समय वही था जो आपका इस समय है, एक पन्थ दो काज—अर्थात् टकों की कमाई और शत्रु पर प्रहार।

परन्तु यहां कालूराम जी का एक वाक्छल है जिसे समझने की आवश्यकता है। आर्यसमाजस्थ पुरुष कब कहते हैं कि आदिम सत्यार्थप्रकाश श्रीस्वामी दयानन्द जी का बनाया हुआ नहीं है। वे तो इतनाही कहते हैं कि उस में लेखक पण्डितों ने, 'मृतक श्राद्ध' और "यज्ञ में पशु हिंसा" परक वाक्य कुटिलता से मिला दिए। ऋषि दयानन्द यतः बहुत उदार थे, उन्होंने मृतकश्राद्ध विषयक विज्ञापन में उन्हें मूर्ख ही समझा है, कुटिल नहीं बतलाया।

इस सबके अतिरिक्त एक बात और है। अब्दुल गफ़ूर (उप नाम-धर्मपाल) तो आर्यसमाज का शत्रु है, परन्तु यदि आर्यसमाज का कोई वर्तमान नेता भी कहदे कि द्वितीयावृत्ति का संशोधित सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द का बनाया नहीं तो उसका कथन, इसके विरोधी पुष्ट प्रमाणों के होते हुए, मानने योग्य नहीं। उन पुष्ट प्रमाणों को आगे पेश किया जायगा।

दूसरा विचार—"प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश निश्चय स्वामी दयानन्द कृत है द्वितीयावृत्ति में प्रथमावृत्ति के सिद्धान्तों का चकनाचूर कर दिया गया है इस कारण हम कह सकते हैं कि द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द कृत नहीं है। प्रथमावृत्ति में स्वर्गलोक और उसके बसने वाले देवता तथा मांसभक्षण आदि जो लिखा था वह द्वितीयावृत्ति में नहीं है इस कारण यह स्वामी दयानन्द का बनाया नहीं हो सकता।

"कोई कोई समाजी इस के ऊपर उज़र किया करते हैं कि यह सब बातें प्रेस की अशुद्धि से छप गई कोई भी विचारशील मनुष्य इस बात को नहीं मान

सकता कि कम्पाज़ीटर इतनी अशुद्धि करें जो लोग प्रेस के काम से अभिज्ञ हैं वे जानते हैं कि कम्पाज़ीटरों से एक दो अक्षर की भूल हुआ करती है या तो कोई अक्षर रह जाता है या इधर का उधर हो जाता है किन्तु यह आज तक किसी भी प्रेस में न हुआ और न हो सकता है कि कम्पाज़ीटर पंक्ति का मजमून अपने घर से बना लावें और दूसरे की पुस्तक में मिला दें यह असम्भव बात है इसको किसी की भी बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती है।

" फिर यदि ऐसा हो गया था तो प्रूफ़ तो स्वामी दयानन्दजी ने ही शोधा था (इसको द्वितीयावृत्ति की भूमिका में लिखा है) कम्पाज़ीटरों का मिलाया हुआ पाठ उस समय निकाल देते यदि उस समय भी रह गया था तो फिर शुद्धाशुद्धि पत्र में ले जाते जब कि कम्पोज़ होने के पश्चात् तैयार होने तक स्वामी दयानन्दजी सत्यार्थप्रकाश को दो बार देख चुके तब प्रेस वालों की मिलावट बतलाना संसार को धोखा देना नहीं तो और क्या है ?"

समीक्षा—यहां पर कालूरामजी ने फिर उसी चाल से काम लिया है कि पूर्व पक्ष की मनमानी स्थापना करके उत्तर देना आरम्भ कर दिया। पहले भाग में तो आपने यही बात दोहराई है कि दूसरी आवृत्ति में आर्यसमाजियों ने सिद्धान्त भेद कर दिया। इसका उत्तर तो आगे मिलेगा कि आर्यसमाजियों ने कुछ नहीं किया प्रत्युत स्वामी दयानन्द ही प्रथमावृत्ति का सारा संशोधन कर गये थे।

फिर आप लिखते हैं कि कम्पोज़ीटरों का यह दोष नहीं हो सकता कि पंक्तियों की पंक्तियां मांस भक्षणादि विषयक ग्रन्थ में डालदें। आर्य कब कहते हैं कि कम्पोज़ीटरों ने वे पंक्तियां डाल दीं ? उनका तो यह कहना है कि लिखनेवाले पौराणिक पंडितों ने वे पंक्तियां डालदीं और आगे चल कर अन्तरीय तथा बाह्य साक्षियों से सिद्ध किया जायगा कि ऋषि दयानन्द कृत वे पंक्तियां नहीं हो सकतीं।

फिर आपने यह लिखकर सर्व साधारण को धोखे में डाला है कि स्वामी दयानन्द ने पहले सत्यार्थ प्रकाश के प्रूफ़ देखे। सेप्तेम्बर, १८७४ ई० के अन्त तक ग्रन्थ लिखवा कर वह प्रयाग से चले गए। जबलपुर और नाशिक होते हुए वह मुम्बई पंहुचे, जहां बल्लभमत का दुर्ग उन्हों ने हिला दिया। फिर अहमदाबाद,

राजकोट, पूना आदिक स्थानों में प्रचार किया। द्वितीय आवृत्ति की भूमिका में कहीं नहीं लिखा कि स्वामी दयानन्द ने प्रूफ़ देखे। वहां केवल इतना लिखा है "हां जो छपने में कहीं २ भूल रही थी वह निकाल शोध कर ठीक ठीक करदी गई है।" इसका तात्पर्य यह है कि पौराणिक लेखकों की कुटिलता वा मूर्खता से जो भूल रही थी वह निकाल दी गई है। इससे तो आर्यों के दावे की पुष्टि होती है। और जो कालूरामजी ने शुद्धाशुद्धि पत्र की तैयारी का सम्बंध स्वामी दयानन्द से जोड़ा, उसका श्री राजा जयकृष्णदासजी के निवेदन नं० ३ के अन्तिम भाग से ही खन्डन हो जाता है। जब पण्डितों के शुद्धा-शुद्धि पत्र लगाने पर भी अनेक अशुद्धियां रह गईं (जो अब भी ग्रन्थ के पढ़ने से विदित होती हैं) तब तो राजा साहब ने लिखा—"छापने में शीघ्रता के कारण इस ग्रन्थ में बहुत अशुद्धियें रह गई हैं आशा है पाठकगण इस अपराध को क्षमा करेंगे।" और शीघ्रता करने का कारण उस पत्र के पाठ से विदित है जो स्वामी दयानन्द ने अहमदाबाद से श्री हरिवंशलाल जी को लिखा था अर्थात् धर्म के जिज्ञासु पुस्तक शीघ्र मांगते थे। उसी पत्र से यह भी विदित होता है कि ईसाई तथा मुहम्मदी मतों का खन्डन भी तैय्यार करा के स्वामी दयानन्द दे आये थे, परन्तु ग्रन्थ को शीघ्र सर्वसाधारण के हाथों में देने के विचार से वे दोनों भाग भी प्रथमावृत्ति के साथ न छप सके।

इस प्रकार कालूराम जी का दूसरा विचार भी निर्मूल और वाग्जाल मात्र ही है।

तीसरा विचार—(क) स्वामी दयानन्द जी का देहान्त सम्वत् १९४० में हुआ और यह भूमिका (अर्थात् द्वितीयावृत्ति की भूमिका) सम्वत् १९४१ में बन कर प्रेस में छपने को आई इस से सिद्ध है कि स्वामी जी के जीवन-समय में आर्य्य समाज सत्यार्थप्रकाश को नए सांचे में न ढाल सका और उनके मरने के पश्चात् फौरन ही काट छांट करके सत्यार्थ प्रकाश का नया कलेवर तय्यार कर दिया जब कि स्वामी दयानन्द जी सम्वत् १९४० में मर चुके फिर सम्वत् १९४० में स्वामी दयानन्द जी भूमिका किस प्रकार लिख सकते हैं।

समीक्षा—कालूराम ने कोई लिखित प्रमाण वा साक्षी नहीं दी कि संशोधित सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका सम्वत् १९४१ में बन कर प्रेस में आई। सत्यार्थ-

प्रकाश का सारा संशोधन सम्वत् १९३९ के भाद्रपद मास तक हो चुका था। उन दिनों ऋषि दयानन्द उदयपुर में थे। श्रावण शुक्ला १० से लेकर फाल्गुन कृष्णा ७ सम्वत् १९३९ तक वह उदयपुर में रहे। मनीषि समर्थदान प्रबन्ध-कर्त्ता वैदिक यन्त्रालय के साथ जो पत्र व्यवहार ऋषि दयानन्द का हुआ (और जो "ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार" नामी ग्रन्थ में छप चुका है) उस से विदित होता है कि जुलाई सन् १८८२ ई० में संशोधित सत्यार्थप्रकाश के ९ समुल्लास पूरे छप चुके थे और दशम समुल्लास छप रहा था। उस में भी पौराणिक पण्डित पुरानी लीला ही करने लगे थे परन्तु मनीषि समर्थदान की सावधानी के कारण वह कुटिल नीति न चल सकी। इस विषय पर सविस्तर मुंशीराम जिज्ञासु रचित "*वेद और आर्य- समाज*" नामी लघु पुस्तक में देखना चाहिए (जो प्रचारक-पुस्तक-भन्डार कांगड़ी से मिल सक्ती है) परन्तु यहां केवल मनीषि समर्थ दान के १३ जुलाई सन् १८८२ ई० के लिखे पत्र से थोड़ा उद्धरण किया जाता है—"श्री महाराज नमस्ते-निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो मांसभक्षण का विधान आया था उस को तो आपने निकाल दिया था और मुझ को भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आवे इस प्रकार से छाप दो सो मैंने छाप दिया था। अब सत्यार्थप्रकाश के भक्ष्याभक्ष्य का प्रकरण—आया इस में भी आपने मांस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है। *प्रथम जब पुस्तक लिखा गया था तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे से शोधते समय (क्या) आपने दी है ऊपर से आपने बनाया है* इस लिये मेरी शक्ति नहीं कि मैं इस को काट दूं इस लिए आप से निवेदन किया। अब जैसी आप की आज्ञा हो वैसा किया जाय ....सत्यार्थप्रकाश का एक फ़ार्म तो और छपेगा पीछे से आप का पत्र आवेगा तब छपेगा कृपा करके पत्र शीघ्र दीजिए।"

ज्ञात होता है कि स्वामी जी ने पत्र दिया और वह मांस की आज्ञा वाला भाग न छपा। इसके १६ वर्षों पीछे यह सिद्ध हो गया कि मांस का आंशिक विधान पुनः सत्यार्थ प्रकाश में घुसेड़ने का कलुषित प्रयत्न पं० ज्वालादत्त संशोधक ने किया था (विस्तार पूर्वक देखो 'वेद और आर्य्य समाज' पृ० २६ से ३६ तक) कालूराम जी ने इसी विचार में यह कल्पना भी पेश की है कि स्वामी दयानन्द के जीवन में सत्यार्थ प्रकाश के संशोधन को हाथ भी नहीं

लगाया गया था उन के मरने के पश्चात् ही आर्यों ने काट छांट की और स्वयम् ही १९४१ सम्वत् में भूमिका लिख कर उस पर भाद्रपद, सम्वत् १९३९ की तिथि डाल दी होगी। परन्तु वास्तविक घटनाओं के सामने ऐसी निर्मूल कल्पनाएं कब ठहर सकती हैं.

जीवन चरित्र में लिखा है कि स्वामी दयानन्द ने २ अक्टूबर सं० १८८० ई० तक मुज़फ्फर नगर में धर्म प्रचार किया। उन दिनों ठाकुरदास जैनी ने स्वामी जी को नालिश की धमकी दे छोड़ी थी और प्रसिद्ध कर छोड़ा था कि उन की गिरफ्तारी के लिए वारंट निकलवाया हुआ है (यह बात थी झूंठ) उस समय लाला भोलानाथ सहारनपुरी स्वामी जी को मिले। उन्होंने कहा "कि जब मुज़फ्फरनगर से स्वामी जी वापिस आए तो भोजन करने के बाद मैंने अर्ज़ की कि महाराज आप के पकड़ने के वास्ते जैनी लोगों ने इश्तिहार दिया है और बमूजिब ताज़ीरात-ए-हिन्द माखूज़ करा कैद कराने की सलाह की है········ फ़रमाया कि सोने को जितनी आग दी जाती है उतना ही वह कुन्दन होता है। (मुझे) अगर तोप के मुंह से बांध कर कोई प्रश्न करेगा कि क्या सत्य है तो वेद ही की श्रुति मुंह से निकलेगी। और अब तो मैंने बहुत ग्रन्थ जैनी लोगों के देख लिये हैं वह मेरे प्रश्नों का क्या जवाब दे सकते हैं। फिर मैंने बरवक्त सवारी प्रश्न किया कि *महाराज सत्यार्थ प्रकाश दूसरी मर्तबा कब छपेगा, उसकी बहुत आवश्यकता है। फ़रमाया कि मैं यही तो कर रहा हूं और कोई काम मेरा नहीं।"* इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि सं० १८८० ई० अर्थात् सम्वत् १९३८ विक्रम में ही सत्यार्थ प्रकाश की द्वितीयावृत्ति के संशोधन का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। फिर श्रावण से फाल्गुन १९३९ तक ऋषि दयानन्द उदयपुर में रहे। वहां प्रूफ़ उनके पास बराबर जाते थे। १३ जुलाई, १८८२ ई० का मनीषि समर्थ दान का पत्र दिया जाचुका है जिससे सिद्ध होता है कि उस तिथि तक संशोधित सत्यार्थ प्रकाश के नौ समुल्लास तथा दशम समुल्लास का आचारा-नाचार विषय भी छप कर तयार हो गया था क्योंकि समर्थदान जी उस पत्र में लिखते हैं कि एक फ़ार्म और छाप कर फिर मांस विषय में आज्ञा आने पर ही कुछ छपेगा।

अब जिन विषयों में (अर्थात् मुर्दों का श्राद्ध, तर्पण तथा यज्ञ में मांस विधि) यह कल्पना की गई है कि वे स्वामी दयानन्द के मन्तव्य थे और उन की मृत्यु के पश्चात् आर्य्यों ने सत्यार्थ प्रकाश से निकाल दिए, उनका सारा वर्णन दशम समुल्लास तक समाप्त हो जाता है और उस भाग का ऋषि दयानन्द के जीवन में उन्हीं की आज्ञा से छपना सिद्ध हो गया। परन्तु इस से बढ़ कर एक अन्तिम साक्षी है जिसे लिखकर अगले विचार का यथा योग्य सत्कार किया जायगा।

जोधपुर में ऋषि दयानन्द ३१ मे,१८८३ ई० को पहुंचे और २७ सेप्तेम्बर १८८३ ई० तक निर्भय होकर धर्म का प्रचार किया। यहां वेश्या, ब्राह्मण और मुहम्मदी—जिन की आजीविका पर दयानन्द के उपदेश वज्र की तरह पड़ते थे-तीनों ने उस कंटक को अपने मार्ग से दूर करने की ठान ली। सुक़रात को जैसे विष का प्याला पिलाया गया था, उसी प्रकार ऋषि दयानन्द के दूध में भी विष मिलाया गया। उस क्रूर निर्दई देश के वृत्तान्त में नीचे लिखा चारण नवलदान का कथन हमारी प्रतिज्ञा की, स्पष्ट रूप से, पुष्टि करता है।

" मैंने स्वामी जी से नया सत्यार्थप्रकाश जो उस वक्त ३६४ सफ़े तक छप चुका था--ठाकुर गिरधारी सिंह रईस के वास्ते ख़रीदा था।"

अब नए सत्यार्थप्रकाश के प्रथम १० समुल्लास तो पृ० २९० पर समाप्त होजाते हैं, इस लिये स्वामी जी के जीवन में ही एकादश समुल्लास के भी ७४ पृष्ठ छप कर उनके पास पहुंच चुके थे। इस विचार के अन्त में, यह बतला कर कि उनके पास अनुमान का बल है, पण्डित कालूराम लिखते हैं— ' और समाज के पास ऐसा कोई सबूत नहीं कि जिससे भूमिका को स्वामी दयानन्द कृत सिद्ध करसकें" *परन्तु यहां अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया गया कि न केवल भूमिका ही स्वामी दयानन्द की लिखी हुई है प्रत्युत यह कि सारे सत्यार्थप्रकाश का संशोधन उक्त ऋषि वर ने ही किया था और कि उसके प्रूफ देखते हुए ३६४ पृष्ट उन्हों ने अपने सामने छपवा कर उत्सुक जिज्ञासुओं को देने भी आरम्भ करदिए थे*

चौथा विचार—" स्वामी दयानन्द प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश को ही अपने सिद्धान्त समझते थे तीन वर्ष तक स्वामी दयानन्द के यही सिद्धान्त रहे तीसरे वर्ष सम्वत् १९३५ में केवल एक सिद्धान्त बदला वह यह कि स्वामी दयानन्द

पहले मरों का श्राद्ध मानते थे सम्वत् १९३५ से वह जीतों का ही मानने लग गए जब उनके सिद्धान्त में यह फेर आया तब उन्होंने फौरन एक नोटिस निकाला जरा उसको भी पढ़ने की कृपा करें।"

इसके नीचे ऋषि दयानन्द का वह विज्ञापन दर्ज किया है जो उन्हों ने यजुर्वेद भाष्य के पहले अंक के साथ दिया था; उसमें कालूराम जी ने कुछ अशुद्ध छपवा दिया है इस लिये वह आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की छपवाई हुई शुद्ध प्रति के अनुसार उचित स्थान पर दिया जायगा। विज्ञापन की नकल के नीचे कालूराम जी लिखते हैं–

"इस विज्ञापन में श्राद्ध तर्पण को छोड़ अन्य कोई लेख सत्यार्थ प्रकाश का अशुद्ध नहीं बतलाया बस श्राद्ध तर्पण को छोड़कर स्वामी जी शेष प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश को शुद्ध मानते थे।"

समीक्षा--पहले बतलाया जा चुका है कि असल में मुर्दों का श्राद्ध, तर्पण और यज्ञ में पशु हिंसा का विधान स्वामी दयानन्द वेदविरुद्ध ही मानते थे, परन्तु लेखक पंडितों की कुटिलता से इन विषयों का प्रवेश आदिमसत्यार्थ प्रकाश में हो गया। मृतक श्राद्ध तथा तर्पण के विषय में जब स्वामी दयानन्द का ध्यान एक व्याख्यान में खींचा गया तो उन्होंने उसी समय विज्ञापन द्वारा उस भूल का संशोधन कर दिया। उस विज्ञापन से कालूराम जी यह परिणाम निकालते हैं कि स्वामी दयानन्द ने यह मान लिया कि विज्ञापन के पहले वह मुर्दों का श्राद्ध और तर्पण वेद विहित मानते थे परन्तु विज्ञापन के समय से इस विषय में उन्होंने अपने सिद्धांत बदल लिए। हमारी प्रतिज्ञा यह है कि उस विज्ञापन से स्पष्ट सिद्ध है कि (१) मुर्दों का श्राद्ध और तर्पण वह कभी भी वेद विहित नहीं मानते थे (२) कि प्रथम सत्यार्थ प्रकाश के लिखने तथा शोधने वाले उनके अतिरिक्त अन्य थे और उन्होंने ये अनृतभाव, स्वामीजी के मन्तव्य के विरुद्ध, ग्रन्थ में डाल दिए और (३) कि जो कुछ भी ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में वेद विरुद्ध मिले उसे वह अप्रमाण ही समझते थे।

"*विज्ञापन*–सबको विदित हो कि जो जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूं विरुद्ध बातों को नहीं॥ इससे जो जो मेरे बनाए सत्यार्थ-

प्रकाश वा *संस्कार विधि* आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं वे उन उन ग्रन्थों के मतों को जनाने के लिये लिखे हैं उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और *विरुद्ध का अप्रमाण मानता* हूं। जो जो बात वेदार्थ से निकलती है उन सबको प्रमाण करता हूं क्योंकि वेद ईश्वर वाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है। और जो जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनि मुनि पर्य्यन्त महात्माओं के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं उनको भी मैं *साक्षी के समान* मानता हूं। और जो सत्यार्थ प्रकाश के ४२ पृष्ठ और २५ पंक्ति में पितादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गए हैं उनका तो अवश्य करे, तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ मरे भए पितादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है *सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है।* इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवतों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो जो मर गए हों उनका नहीं करना क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुंचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादिके दिए पदार्थ को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है अन्य नहीं। *इस विषय में वेद मन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के पृ० २५१ से लेकर १२ अंक के २६७ पृष्ठ तक छपा है वहां देख लेना।"*

इस विज्ञापन से यह भी पता लगता है कि उससे पहले ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में स्वामी दयानन्द अपना यह सिद्धान्त, वेद प्रमाण सहित, छपवा चुके थे कि श्राद्ध और तर्पण जीतों का ही होता है, मरों का नहीं। यद्यपि पर्याप्त हेतु दिए जा चुके हैं कि ऋषि दयानन्द ने श्राद्ध तथा तर्पण विषय में अपनी सम्मति बदली नहीं थी प्रत्युत *लिखने तथा शोधने वालों की भूल का संशोधन*, विज्ञापन द्वारा किया था, फिर भी इस विषय को निस्सन्देह करने के लिए अन्य अन्तरीय तथा बाह्य प्रत्यक्ष साक्षिएं देना भी उचित ही प्रतीत होता है।

अन्तरीय साक्षी से बढ़ कर दूसरी साक्षी नहीं हो सकती। यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि ग्रन्थकर्त्ता के लेख की संगति तभी मिलती है और उस का लेख तभी *यथार्थ* समझ में आता है जब कि उस में से कुछ वाक्य अलग कर

दिए जायं तो उन वाक्यों को अवश्य अलग कर देना चाहिए और मान लेना चाहिए कि ग्रन्थकर्त्ता के आशय के विरुद्ध वे वाक्य किसी ने डाल दिये हैं। श्राद्ध तर्पण के विषय पर जो कुछ भी पहले सत्यार्थ प्रकाश में छपा था उस को क्रमशः पढने से स्पष्ट पता लग जाता है कि स्वामी दयानन्द के आशय को लेखकों ने कैसी धूर्तता से बदल दिया था।

तृतीय समुल्लास में पंच महायज्ञों को कर्त्तव्य बतला कर और ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ की विधि देकर पृ० ४२ पर ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"सन्ध्योपासन अग्निहोत्र तर्पण बलिवैश्वदेव और अतिथिसेवा पंच महायज्ञों के प्रयोजन पीछे लिखेंगे अग्निहोत्र के आगे तर्पण करे। नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षि पितृतर्पणम्। यह मनुस्मृति का वचन है। इस के पश्चात् देव ऋषि और पितृतर्पण के वही सब वाक्य, जो संशोधित सत्यार्थ प्रकाश में लिखे हैं, देकर अन्त में छपा है —"पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करे और जितने मर गये होयं उनका तो अवश्य करे।"

स्वामी दयानन्द संशोधक थे। उन से पहिले मुर्दों का ही तर्पण होता था। यदि उन का मन्तव्य भी यही होता कि मुर्दों का तर्पण होना चाहिये तो यह लिखने की कोई आवश्यकता न थी कि "पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उस का तर्पण न करे" क्योंकि यह तो प्रचलित रीति ही थी। इस से स्पष्ट पाया जाता है कि उन्होंने लेखक के प्रति वही लिखने को बोला होगा जो अपने विज्ञापन में दर्ज कर गये हैं।

उस से आगे फिर पृ० ४७ पर छपा है—"तर्पण और श्राद्ध में क्या फल होगा इस का यह समाधान है कि तृप् प्रीणने, प्रीणनं तृप्तिः। तर्पण किस का नाम है कि तृप्ति का और श्राद्ध किस का नाम है जो श्रद्धा से किया जाता है।

मरे भये पित्रादिकों का श्राद्ध करता है उस से क्या आता है कि जीते भये को अन्न और जलादिकों से सेवा अवश्य करनी चाहिए, यह जाना गया" अब निष्पक्ष विचारशील सज्जन सोचें कि यदि इतना वाक्य 'मरे भये पित्रादिकों का श्राद्ध करता है—" निकाल दिया जाय तो पूर्वापरि भाषा की संगति मिल जाती है। उस के बिना सारा लेख असम्बद्ध प्रतीत होता है। यदि मुर्दों का

मामला था तो तर्पण और श्राद्ध के ऐसे शब्दार्थ न किये जाते जो जीवित में ही घट सकते हैं। ऐसे असम्बद्ध लेख महात्माओं के ग्रन्थों में डालने वालों को स्वामी दयानन्द जालसाज़ कहा करते थे और ऐसी ही पौराणिक लेखक ने यहां लीला की है। और फिर वैचित्र्य यह है कि इसी लेखक ने अपने हाथ से ही ४८ पृष्ठ पर यह भी लिखा है— "पांचवां गुण यह है कि देव ऋषि पितृ संज्ञा श्रेष्ठों की है देव संज्ञा दिव्य कर्म करने वालों की हैं पठन पाठन करने वालों की तो ऋषि संज्ञा है और पदार्थ ज्ञानियों की पितृ संज्ञा है उन को निमन्त्रण देगा *तब उन से बात भी सुनेगा प्रश्न भी करेगा उस से उन को ज्ञान का लाभ होगा* छठवां प्रयोजन यह है कि श्राद्ध तर्पण सब कर्मों में वेद के मन्त्रों को कर्म करने के लिये कण्ठस्थ रक्खेंगे इस से उस पुस्तक का नाश कभी न होगा फिर कोई उस विद्या का विचार करेगा *तब पदार्थविद्या प्रगट होगी* उससे मनुष्यों को बहुत लाभ होगा सातवां प्रयोजन यह है कि "वसून् वदन्तिवै पितन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपिता-महांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी" यह मनुस्मृति का श्लोक है इस का यह अभिप्राय है कि वसु जो है सोई पिता है जो रुद्र है सोई पितामह है जो आदित्य है सोई प्रपितामह है ये तीनों नाम परमेश्वर ही के हैं इस से परमेश्वर ही की उपासना तर्पण से और श्राद्ध से आई" सारा प्रकरण लगाने से यही सिद्ध होता है कि मुर्दों के तर्पण और श्राद्ध को पुस्तक लिखाते समय स्वामी दयानन्द वेद विरुद्ध कुरीति मान कर उसका खण्डन करते हैं।

बाह्यसाक्षी-यह तो अन्तरीय प्रमाण ऐसा है कि इस के होते हुए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु यहां अनुमान प्रमाण से भी काम लिया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने जब जुलाई से सेप्तेम्बर १८७४ तक श्रीराजा जयकृष्णदासजी की प्रेरणा से प्रयाग नगर में सत्यार्थप्रकाश लिखवाया उससे वर्षों पहले से वह धर्म प्रचार करते चले आ रहे थे। और वहां से चलकर भी वैदिकधर्म प्रचार ही करते रहे। यह पता लगाना बड़ा ही मनोरञ्जक होगा कि उस बड़े समय में श्राद्ध और तर्पण विषय में उनके विचार क्या थे। यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि वह मुर्दों के श्राद्ध को वेद विरुद्ध बतलाते हुए और उसका ज़बरदस्त खण्डन करते हुए प्रयाग में पहुँचे और वहां से चलकर भी उसी बल से उस कुरीति का खण्डन करते

रहे तो किसी अन्य साक्षी के न होने हुए भी यह मानना पड़ेगा कि बीच के तीन मासों में भी उनके तद्विषयक मन्तव्य में कुछ भेद नहीं आया था । पं० लेखराम लिखित जीवनचरित्र में सब स्थानों के व्याख्यानों का यद्यपि विस्तृत वर्णन नहीं है तथापि नीचे दिये उद्धरणों से यह परिणाम निकालना कठिन नहीं कि ऋषि दयानन्द ने श्राद्ध और तर्पण विषय में अपने विचार कभी नहीं बदले थे । (कहीं कहीं जो किसी किसी अरबी और फ़ारसी के कठिन शब्द का पर्यायवाची शब्द लगा दिया है वह लगाना उचित ही था ।)

(१) सम्वत् १९२४ के कुम्भ के पश्चात् गंगा किनारे धर्मप्रचार करते हुए स्वामी दयानन्द श्रावण मास में कर्णवास पहुंचे । वहां के अन्य वृत्तान्तों में लिखा है—" पंडित पन्थ जी से श्राद्ध विषय में बात हुई·········स्वामी जी की आज्ञा थी कि जीवित का श्राद्ध करना चाहिए जिसकी विधि यह थी कि रबड़ी के पिंड बना कर उस ब्राह्मणादि को, जिसको निमन्त्रित किया गया हो, उसके हाथ में देवें । फिर उसको खिलावें । यहां एक बिहारी व्यास ब्राह्मण--एक ब्रह्मा ब्राह्मण एक बलकेश्वर ब्राह्मण, इन तीनों को कराए थे ।"

(२) " मयाराम जाट नम्बरदार शफ़ीनगर ने बयान किया कि हमने स्वामी जी को (सन् १८६८ ई०) चाशनी, थारपुर, अनूपशहर में देखा था । स्वामी जी हम से यह कह गए थे कि जिन्दों का श्राद्ध हमेशा करते रहो, और ज्वालादत्त को पद्धति बनवा कर दे गए थे कि इस रीति से कराते रहो" (पृ० ६४)

(३) सं. १८७२ ई० के अन्त में जो व्याख्यान दानापुर में दिए उनमें से मुर्दों के श्राद्ध का खन्डन भी एक विषय था जिसकी चर्चा जीवन चरित्र के पृ० १८४ पर की गई है ।

(४) १८ मई सं० १९७३ को स्वामी दयानन्द पढ़ने गए । वहां " एक दिन ६ बजे से ८ बजे तक सभा हुई । पं० छोटूराम, पं० व्रजभूषण, और रामलाल मिश्र आदि १५० के लगभग लोग उपस्थित थे । मूर्ति, पुराण, *श्राद्ध और पिण्डदान*—इन चार विषयों का स्वामी जी ने इस सभा में खण्डन सुनाया " (जीवन चरित्र, पृ० २०५)

(५) २२ जनवरी स० १८७४ ई० को स्वामी दयानन्द हाथरस नगर में पहुंचे । वहां के वृत्तान्त में लिखा है–" दस बारह पंडित प्रतिदिन स्वामी जी के पास आते और अपनी शंका निवारण करते थे । स्वामी जी ने यहां एक *व्याख्यान मृतक श्राद्ध खंडन पर दिया और लोगों पर इसके मिथ्या होने की अच्छी तरह पोल खोली थी* । इस श्राद्ध खन्डन वाले व्याख्यान के विषय में मुन्शी कन्हैयालाल अलख धारी ने अपने रिसाला (नीति प्रकाश) में इस प्रकार लिखा है–एक उपदेश दयानन्द सरस्वती ने हाथरस में सर्व साधारण को किया वहां के बिरहमन डर गए कि उन्हों ने हमारी रोटियों को खोया, और हमारी चिड़ियों को जाल में से निकालता है । शोक! स्वार्थी अपने लाभके कारण जानवर को आदमी नहीं बनने देते हैं बल्कि आदमी को जानवर बनाया करते हैं...."

(जीवन चरित्र पृ० २१५)

(६) फिर पृष्ठ ८२ पर रामघाट के वृत्तान्त में लिखा है–" उस समय स्वामी जी कुल पुराणों को नहीं मानते थे, श्राद्ध का निषेध, मूर्ति और तिलकों का भी निषेध करते थे । "

(७) पूना के १५ व्याख्यानों में से चौदहवां व्याख्यान ३ अगस्त सन १८७५ ई० के दिन हुआ था । उसका विषय था–आन्हिक अर्थात् नित्यकर्म तथा मुक्ति । उस में पितृ यज्ञ पर जो व्याख्यान है वह नीचे दिया जाता है:---

" तीसरा नित्य कर्म पितृयज्ञ है । *पितृभ्यो ददाति=पितृयज्ञः* । यहां पितृ शब्द के अर्थों पर विचार करना चाहिए ।

न तेन वृद्धो भवति जनास्तं स्थविरं विदुः ।
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन च बन्धुभिः ।।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः सनो महान् ।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मंत्रदः ।।

अच्छी नीति, धर्म, सचाई और सदाचारादि गुणों से विभूषित, बड़े विनय शील, बड़े महात्मा जो पुराने पुरुष हो गए हैं, उन्हें तप बल के कारण वसु, रुद्र और आदित्य की उपाधियां मिला करती थीं । ऐसे *ऋषि सच्चे पितृ होते थे और उन का आदर सत्कार करना पितृयज्ञ कहलाता था* ।

२४ वर्ष की आयु तक जो ब्रह्मचर्य करे वह वसु, ४४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य करने वाला रुद्र, और ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य करने वाला आदित्य कहलाता है छान्दोग्योपनिषद् में प्रातः, मध्यान्ह और सायं सवन वर्णन किये गए हैं। इन सब के तात्पर्य पर विचार करके मालूम होता है कि विद्या दान द्वारा नया आत्मिक जन्म देने वाला ही पितृ कहलाता है। फिर ऋषि मन्त्रद्रष्टा अर्थात् वेद मन्त्रों के वास्तविक तात्पर्य जानने वाले को कहते हैं। *इस समय पितृयज्ञ कहने से जो मुर्दों का श्राद्ध और तर्पण समझा जाता है, वह ठीक नहीं है।* क्योंकि मनु जी ने भी कहा है कि श्रद्धा से जो काम किया जाता है, उसे श्राद्ध कहते हैं। और तृप्त करने को तर्पण कहते हैं। इन अर्थों और प्रयोगों पर विवेचन करने से मालूम होता है कि आज कल जो देवयज्ञ और पितृयज्ञ का वर्णन किया जाता है वह कवियों की अत्युक्ति ही है। भला सोचिये कि ऐसी अत्युक्ति से तात्पर्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? विद्या सत्कार अर्थात् *ऋषि सत्कार और पितृ सत्कार अर्थात् विद्वान् के सत्कार को ही यज्ञ मानना चाहिये* श्रद्धा के बिना जो काम किया जाता है वह धर्मकर्म अर्थात् श्राद्ध नहीं होगा। मनुजी ने कहा है—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडाल वृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

वेदों के मौलिक अनादित्व को छोड़ कर और सच्चे यथार्थ कर्मों को त्यागकर समुद्र, पहाड़, नदी, वृक्ष आदि तर्पण में घुसड़ गए और चट श्राद्ध होने लगा *भला यह पाखण्ड नहीं तो इसे और क्या कहना चाहिए।"*

इस प्रकार देश के पूर्वीय सिरे से पश्चिम के अन्त तक मुर्दों के श्राद्ध और तर्पण का खण्डन करते चले जाने वाला संशोधक क्या बीच में एकदिन के लिये इन कुरीतियों का समर्थक बन सकता है ? फिर जब उस महानुभाव संशोधक ने स्वयम् लिख दिया कि वह परिवर्तन केवल लिखने और शोधने वालों की भूल का परिणाम है तो क्या यह मानलें कि उसने केवल काल्डराम जी की पुस्तक की बिक्री बढ़ाने के लिए स्वयम् अपने मत से विरुद्ध लेख लिखवा दिया। अतएव यह सिद्ध हो गया कि अपने विज्ञापन द्वारा स्वामी दयानन्द ने यह नहीं

माना कि वह पहले मुर्दों के श्राद्ध और तर्पण को वेद विहित मानते थे और इस विषय में अपना मन्तव्य बदल लिया, प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि ग्रन्थ लिखवाने से पहले और विज्ञापन देने तक भी वह मृतक श्राद्ध को वेद विरुद्ध ही मानते थे। तब कालूराम जी का यह विचार भी किसी मूल्य का सिद्ध न हुआ।

पांचवां विचार—"सम्वत् १९४० तक अर्थात् मृत्यु काल पर्यन्त स्वामी दयानन्द के यही सिद्धान्त रहे श्राद्ध तर्पण को छोड़कर शेष समस्त प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द का सिद्धान्त था इसमें सबूत यह है कि स्वामी दयानन्द के जब सिद्धांत बदलते थे तब ही स्वामीजी संसार को जतलाने के लिये विज्ञापन निकाल दिया करते थे पहले वे सनातन धर्मी थे चूहे की कृपा से सनातन धर्म में कुछ संदेह होगया था किन्तु दूसरे सिद्धांत नहीं हुए थे जब उनके सिद्धांत बदले तब उन्होंने अपने सिद्धान्तों को शोलेतूर के विज्ञापन में प्रकाशकर दिया। सम्वत् १९३५ में जब श्राद्ध तर्पण पर सिद्धान्त बदला तब ऊपर का लिखा विज्ञापन निकाला इसके बाद स्वामीजी ने कोई विज्ञापन नहीं छपवाया इससे सिद्ध है कि जो सिद्धांत स्वामी जी के सम्वत् १९३५ में थे वे ही सम्वत् १९४० में थे उनके जीवित समय में सम्वत् १९३५ वाले सिद्धांत रहे इससे सिद्ध है कि द्वितीयावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश जिसमें स्वामीजी के सिद्धान्तों का चकना चूर किया गया है स्वामीजी के मरने के बाद समाज ने छपवाया है।"

समीक्षा—यह फिर वही पिसे का पीसना है। मृतक श्राद्ध और तर्पण को स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश लिखाते समय भी वेद विरुद्ध मानते थे और उस से पहले और पीछे भी उसके खण्डन में खुले व्याख्यान देते रहे स्वयम् उन लेखों में अन्तरीय साक्षी मौजूद है कि लेखक ने स्वामी दयानन्द के मन्तव्य के विरुद्ध बातें लेख में घुमेड़ने का प्रयत्न किया जो उसके फूहड़पन के कारण आज, ४२ बर्ष पीछे, भी पकड़ा जा सका, स्वामी दयानन्द का विज्ञापन भी कालूराम जीकी कल्पना का स्पष्ट खण्डन करता है। कालूराम जी अपने इस अनुमान के लिए कि "यज्ञ में हिंसा का विधान तथा किसी स्वर्गस्थान विशेष के देवताओं का उसके साथ सम्बन्ध" स्वामी दयानन्द मानते थे केवल यही एक युक्ति देते हैं कि स्वामी दयानन्द जब अपने सिद्धान्त बदलते थे तब विज्ञापन द्वारा उस की सूचना दे दिया करते थे। यह तो सच है कि जब कभी स्वामी दयानन्दने पहले

अपने विचारों में उन्नति की तो उसको सर्व साधारण पर विदित कर दिया जैसा कि उन्होंने स्वलिखित-जीवनचरित्र में ऐसे परिवर्तनों का वर्णन कर दिया है, परन्तु ऊपर लिखित विषय में तो उनका सिद्धांत ही लेखक की कुटिलता से अशुद्ध लिखा गया, और यतः [जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है] मृतक श्राद्धकी तरह इस ओर किसीने उनका ध्यान न खींचा इस लिए कोई विज्ञापन न निकला। सम्भावना यही है कि पौराणिक लेखक का इस विषय में जाल स्वामी दयानन्दने उस समय मालूम किया जब कि ग्रन्थ का संशोधन करने लगे थे और इसलिए किसी विज्ञापन देने की आवश्यकता न समझी क्योंकि वह ग्रन्थ बिककर समाप्त हो चुका था।

इससे पूर्व कि "यज्ञ में पशु हिंसा के विधान" विषय की आलोचना की जाय, इतना लिखना आवश्यक है कि चूहे की कृपा वाला उपहास तो कुछ समझ में नहीं आया और शोलेतूर के विज्ञापन में किसी सिद्धान्त के बदलने का इशारा तक नहीं है। उसमें तो पहले चारों वेद [संहिता] को कर्मोपासना ज्ञान का भण्डार बतलाकर, फिर चार उपवेद छः अंग और अन्य ऋषिकृत ग्रन्थों को वेदविहित और व्याकरणानुकूल होने से ही प्रमाण बतलाया है; फिर त्यागने योग्य अष्ट गप्प तथा ग्रहण करने के योग्य अष्ट सत्यों का वर्णन है। फिर न मालूम किस अर्थ की सिद्धि के लिए पं० कालूराम ने इस विज्ञापन का ज़िक्र किया है। अस्तु!

अब प्रश्न यह है कि मांस विषय में स्वामी दयानन्द की ओर से जो विचार पहले सत्यार्थ प्रकाश में छपे है वह वास्तव में उन्हीं का मन्तव्य है वा लेखक की धूर्त्तता से उस ग्रन्थ में इन विचारों को स्थान मिला है? पं० कालूराम अपनी भूमिका के पृष्ठ २ में लिखते हैं-"स्वामी दयानन्द जी सायं प्रातः मांस से हवन करना मानते हैं और पितरों को मांस के पिंड देना बैल आदि नर पशुओं का मारना तथा गौहत्या करना स्वर्ग और स्वर्गवासी देवताओं का मानना अपना सिद्धान्त लिखते हैं किन्तु समाज के सत्यार्थ प्रकाश में इनका विरोध है" फिर विचार नं० २ में लिखते हैं-"प्रथमावृत्ति में स्वर्ग लोक और उसके बसने वाले देवता तथा मांस भक्षण आदि जो लिखा था वह द्वितीयावृत्ति में नहीं है इस कारण यह स्वामी दयानन्द का बनाया नहीं होसकता।"

इसके उत्तर में प्रथम तो यह दोहरा देना आवश्यक है कि संशोधित सत्यार्थ-प्रकाश स्वामी दयानन्द का बनाया हुआ अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए आर्य पुरुषों पर तो किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं होसक्ता कि उन्होंने ऋषि दयानन्द के किसी सिद्धान्त को स्वयम् बदला। यदि कुछ बदला तो स्वयम् ऋषि दयानन्द ने और वह इसलिए कि लेखक ने उनके सिद्धान के विरुद्ध बातें लिखकर छपवादीं। केवल यही विषय ऐसा नहीं है प्रत्युत और विषयों में भी पौराणिक लेखक ने कुछ लीला की है जिसे. इस समालोचना समाप्ति पर, प्रकाशित किया जायगा।

अब असली प्रश्न पर विचार किया जाता है। सब से पहले यहां भी अन्त-रीय साक्षी विद्यमान है कि 'यज्ञ में पशु हिंसा का विधान तथा स्वर्ग लोक और उसमें बसने वाले देवता' स्वामी दयानन्द का मन्तव्य नहीं हो सकता। मांस का विधान नीचे लिखे स्थानों में है :—

(१) पृ० ४५ में चार प्रकार के पदार्थ होम के लिखते हुए, पुष्टिकारक पदार्थों में दूध घी के साथ मांसादिक भी लिखदिया है। यह मिलावट आसानी से की जा सकती थी और यत: देव यज्ञ के विषय के अंत में पृ० ४७ पर लिखा है कि जब "अश्वमेधादि यज्ञ होय तब तो असंख्य सब जीवों को सुख होय' इस लिए वहा भी मांस का विधान लगाते हैं। परन्तु यदि इसी ग्रन्थ में अन्य स्थानों से सिद्ध हो जाय कि स्वामी दयानन्द का स्पष्ट मत कुछ और ही था तो फिर मानना पड़ेगा कि मांस का विधान कुटिलभाव से [स्वामी दयानन्द के मत से पाठकों को घृणा दिलाने के लिए] डाला गया।

(२) चतुर्थ समुल्लास में पाराशर स्मृति का वह प्रसिद्ध श्लोक दे कर जिस में यज्ञ में अश्वमेध, गोमेध तथा संन्यास और नियोगादि का कलियुग में निषेध है, वहां 'अश्वालम्भंङ्गवालम्भं' का अर्थ "मांस का पिंड" लिखा गया है। वास्तव में अश्वमेध और गोमेध लिखा जाना चाहिये था। आलम्भ के अर्थ तो रक्षा के भी हैं और यदि "आलम्भं" समझें तो भी उसके अर्थ केवल मारने के ही नहीं "प्राप्त होने" के भी हैं। कोई भी यज्ञ विना घृत दूधादि के सिद्ध नहीं होता, इसीलिये वहां पशुकी प्राप्ति की आवश्यकता होती है।

यदि लेखक का मांस के पिण्ड सम्बन्धी अनर्थ अलग कर दिया जाय तो आगे स्पष्ट लिखा है—" इसके कहने से अजामेधादिकों का त्याग नहीं आया अश्वमेध और गोमेध का जो करना उस से बड़ा संसार का उपकार है सो पहले कह दिया। " इससे आगे फिर पौराणिक लेखक की लीला है, यथा—

" और मांस का पिण्ड देने में तो कुछ पाप ही नहीं क्योंकि " यदन्नाः-पुरुषालोकेतदन्नाः पितृदेवता ।। १ ।। यह महाभारत का वचन है, मधुपर्के तथा यज्ञे पित्र्ये दैवे च कर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ।। २ ।। जो पदार्थ आप खाय उसी से पञ्चमहायज्ञ करै अर्थात् पितृदेव पूजा भी उसीसे करै अर्थात् श्राद्ध और होम उसी का करै मधुपर्क विवाहादिक और गोमेधादिक यज्ञ और देव पितृ कार्य *इन में मांस को जो खाता होय तो उसके वास्ते मांस के पिण्ड करने का विधान है इससे मांस के पिण्ड देने में भी कुछ पाप नहीं"*

यह सारी इबारत ही बोल रही है कि लेखक ने बड़ी चालाकी से यह भी प्रयत्न किया है कि पुस्तक के दूसरे भागों के साथ संगति भी मिलाई जाय; यह दूसरी बात है कि उसे इस में कृतकार्यता नहीं हुई ।

(३) पंचम समुल्लास में संन्यास प्रकरण के अन्दर मन्वोक्त धर्म के दश लक्षणों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अधर्म के लक्षणों की भी व्याख्या की है; उस में हिंसा को एक अधर्म बतलाते हुए कहा है—विधान के विना हिंसा नाम पशुओं का हनन करना *अपनी इन्द्रियों की पुष्टि के लिए मांस खाना और पशुओं का मारना यह राक्षस विधान है* और यज्ञ के वास्ते जो पशुओं की हिंसा है सो विधि पूर्वक हनन है।" इस में यज्ञ के लिये जो पशुहिंसा का विधान लिखा है प्रथम तो वह प्रकरण से असंगत है क्योंकि पांचवें समुल्लास में संन्यास प्रकरण के अन्दर ये श्लोक आये हैं और संन्यासी के लिए पौराणिक लोग भी हिंसा परक यज्ञों का विधान नहीं करते और दूसरे विधिपूर्वक हनन से मतलब राजा की ओर से हिंसक पशुओं का मारा जाना और धर्मयुद्ध में मनुष्यों का बध भी हो सकता है—और इसी लिए आगे लिखा है:—*और जिन पशुओं से संसार का उपकार होता है उन पशुओं को कभी न मारना चाहिए क्योंकि इनको मारने से आगे पशु, दूध और घी की उत्पत्ति मारी जाती है और इन्हीं से संसार का पालन होता है इस से पशुओं की स्त्रियों को तो कभी न मारना चाहिए*

और **जो इन पशुओं को मारना है इसका नाम अविधान से हिंसा है।"** अन्तिम शब्दों को पक्षपात रहित होकर पढ़ा जाय तो विधान से हिंसा का तात्पर्य वही हो सकता है जो हम ने ऊपर लिखा है।

(४) दशम समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के प्रकरण में वही लीला है जो संशोधित सत्यार्थप्रकाश के छपते समय पं० ज्वालादत्त संशोधक ने की थी और जिसका मनीषी समर्थदान जी प्रबन्धकर्त्ता वैदिक यन्त्रालय की सावधानता से भण्डा फूट गया था। इस विषय को " वेद और आर्य समाज " नामी ट्रैक्ट लेकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

(५) पृ० ३०१ पर **"अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरोऽभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः"** इस मनुस्मृति के आधे टुकड़े को प्रमाण में लिख कर लगभग ज्वालादत्त वाली ही इबारत है और उस पर प्रश्न है—" एक जीव को मारके अग्नि में जलाना और फिर खाना कुछ अच्छी बात नहीं और जीव को पीड़ा देना किसी को अच्छा नहीं " इसका उत्तर ऐसा भौंडा है कि स्वामी दयानन्द की ओर से हो नहीं सकता—" **उत्तर**-इसमें क्या कुछ पाप होता है प्रश्न, पाप ही होता है क्योंकि जीवों को पीड़ा देके अपना पेट भरना यह धर्मात्माओं की रीति नहीं। उत्तर अच्छा एक जीव को मारने में पीड़ा होती है सो सब व्यवहारों को छोड़ देना चाहिए ....और जो कुछ तुम खाते पीते चलते फिरते और बैठते हो इस व्यवहार से बहुत जीवों को पीड़ा होती है इस से तुम्हारा कहना व्यर्थ है कि किसी जीव को पीड़ा देना। प्रश्न- जिस में प्रत्यक्ष पीड़ा होती है हम लोग उस में पाप गिनते हैं अप्रत्यक्ष में कभी नहीं क्यों कि अप्रत्यक्ष में पाप गिनें तो हमारा व्यवहार न बने" इस का उत्तर वही दिया है जो मांसाहारी दिया करते हैं अर्थात् कि पशुआदि इतने बढ़ जायं कि "फिर मनुष्यों को मारने लगें और खेतों में धान्य ही न होने पावे फिर सब मनुष्यों की आजीविका नष्ट होने से सब मनुष्य नष्ट हो जायं" यहां तक मांस भक्षण के पक्ष में दलीलें देकर अपने ही मुख से उसका खण्डन भी कर दिया—"और व्याघ्रादिक मांसाहारी जीवभी उन मृगादिकों को भक्षण करते हैं और गायादिकों को भी" इस से एक बात तो स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ने जो कुछ भी विधान लिखवाया था वह मांस भक्षण विषय में न था प्रत्युत हिंसक पशुओं के बध विषयक था और दूसरे यह कि व्याघ्रा-

दिक मांसाहारी पशुओं का अन्य पशुओं को मार कर खाजाना तो उसी दलील का खण्डन करता है जो लेखक ने मांस के लिए पशु बध की दलील देते हुए स्वामी दयानन्द की ओर से छपवाई थी। आगे की इबारत इसे स्पष्ट करती है— "*परन्तु मनुष्य लोगों को यह चाहिए कि गाय, बैल, भैंसा, छेडी, भेड़ और ऊंट आदिक पशुओं को* **कभी न मारें** *क्यो कि इन्हीं से सब मनुष्यो की आजीविका चलती है जितने दुग्धादिक पदार्थ होते हैं वे सब उत्तम ही होते हैं* (यहां मांस को उत्तम नहीं लिखा) *और एक पशु से बहुत आजीविका मनुष्य की होती है मारने से जहा सौ मनुष्य तृप्त होते हैं उस गाय आदिक पशुओ के बीच में से एक गाय की रक्षा से दस हज़ार मनुष्यों की रक्षा हो सकती है इस से इन पशुओं को कभी न मारना चाहिए*" इस पर विपक्षी की ओर से वही प्रश्न है कि क्या फिर यह पशु बढ़ कर उसी प्रकार हानि न कर देंगे? उस का उत्तर यह है—"ऐसा न कहना चाहिए क्यों कि व्याघ्रादिक जीव उन को मारेंगे और कितने रोगों से भी मरेंगे इस से अत्यन्त नहीं होने पावेंगे" इस उत्तर ने यह बात स्पष्ट करदी कि पहली पशुओं के बढ़ने वाली दलील भी विपक्षी की ओर से होगी, स्वामी दयानन्द की ओर से नहीं।

इस के पश्चात् सर्वथा निरर्थक लेख इस विषय में है कि गोमेधादिक में या तो बन्ध्या गाय को मारा जाय या बैल को, दुधार गाय को नहीं। यह सारा लेख निकालने से पूर्वापर की संगति में कुछ भी भेद नहीं आता।

(६) बारहवें समुल्लास में जैन मत की समीक्षा करते हुए जहां चार्वाक मत के श्लोकों का खण्डन किया है वहां केवल इस पर बल दिया है कि तुम लोग जो यज्ञ में पशु हिंसा का निषेध करते हुए वेदों के बनाने वालों को भाण्ड, धूर्तादि कहते हो अपनी ओर नहीं देखते कि "अपने सम्प्रदाय में तो प्रीति करते हो और अन्य सम्प्रदायों में द्वेष तथा वेदादिक सत्य शास्त्र तथा ईश्वर पर्यन्त आप लोगों को बैर और द्वेष है फिर अहिंसाधर्म आप लोगों का कथन मात्र है" इस प्रकरण में जो कुछ लिखा है वह पौराणिक लीला तथा जैन लीला का मुकाबिला करते हुए लिखा है और अन्त में पृ० ३०९ पर लिखा है— "और यज्ञ में पशु को मारने से स्वर्ग में जाता है यह बात किसी मूर्ख के मुख से सुन ली होगी *ऐसी बात वेद में कहीं नहीं लिखी*"

हिंसा परक जितने वाक्य थे उन की समालोचना करके अब कुछ ऐसे उद्धरण दिये जाते हैं जिनसे न केवल यह सिद्ध होगा कि यज्ञ में पशु हिंसा के वाक्य स्वामी दयानन्द के लिखाए नहीं हो सकते बल्कि यह भी सिद्ध होगा कि स्वामी दयानन्द ऐसे देवताओं को न मानते थे जो किसी स्वर्ग नामी स्थान-विशेष में रहते हों—

(१) हिंसक पशुओं को मार कर प्रजा का कष्ट निवारण करना तो विधानपूर्वक हिंसा है क्यों कि वेद में इस की आज्ञा है परन्तु केवल मनोरञ्जन वा मांस भक्षण के लिए शिकार खेलना पाप है। स्वामी दयानन्द ने भी षष्ठ समुल्लास में पृष्ठ १८२ पर मनु का प्रमाण देते हुए लिखा है—"मृगया नाम शिकार का खेलना..........इस को प्रयत्न से राजा छोड़ दे।" क्यों कि इस व्यसन की उत्पत्ति भी काम से होती है।

(२) पृष्ठ १९४ पर राजा के कर्त्तव्य बतलाते हुए छपा है- "पांचवीं बात यह है कि जो कोई कर्म काण्ड का अधिकारी होय उस को कर्मकाण्ड में रक्खे सो कर्म काण्ड वेदोक्त लेना *तन्त्र वा पुराण की एक बात भी न लेनी*........ सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध तक कर्मकाण्ड है उस के दो भेद हैं एक तो सकाम दूसरा निष्काम, सकाम यह कहाता है कि विषय भोग ऐश्वर्य के वास्ते कर्म का करना और निष्काम यह है कि कर्मों से मुक्ति ही चाहना उस से भिन्न पदार्थों की चाहना नहीं उस में *वेदके जो मन्त्र हैं वेही देव हैं इनसे भिन्न कोई देव नहीं* ऐसा ही निश्चय पूर्वमीमांसादिकों और निरुक्तादिकों में किया है"

(३) देवता विषय में और भी स्पष्ट लेख है— "देवालय, देवमन्दिर, देवायतन इत्यादिक नाम यज्ञशाला के हैं क्योंकि जिस स्थान में देवों की पूजा होय उसी के ये नाम हैं *देव हैं वेद के सब मन्त्र और परमेश्वर* क्योंकि परमेश्वर सब का प्रकाशक है और वेदमन्त्र भी सब पदार्थविद्याओं के प्रकाशने वाले हैं इङ्गो मन्त्रः। यह निरुक्त का वचन है इस का यह अभिप्राय है कि जहां जहां देवता शब्द आवे वहां वहां मन्त्र ही को लेना परन्तु कर्मकाण्ड में उपासना और ज्ञानकाण्ड में परमेश्वर ही देव है .... इत्यादिक मन्त्रों से भिन्न जो ब्रह्मादिक देव उनके भी पूजन का अत्यन्त निषेध किया है सो ठीक ही किया है क्योंकि ब्रह्मादिक देव नित्य पञ्चमहायज्ञ और अग्निष्टोमादिक यज्ञों को करते हैं

तब वे यजमान होते है फिर उन से अन्य देव कौन हैं कि ब्रह्मादिक के यज्ञ में जिन की पूजा की जाय .... उन के सिवाय अन्य कोई देव देहधारी नहीं है ....इस से परमेश्वर और मन्त्रों ही को देव मानना चाहिए" ।

(४) स्वामी दयानन्द की लेख शैली स्वामी शङ्कराचार्य से मिलती है। जैसे शङ्कर स्वामी पूर्वपक्ष की, प्रबल से प्रबल युक्तियों द्वारा, स्थापना करके समाधान करते है वैसे ही स्वामी दयानन्द भी पूर्व पक्ष के साथ अन्याय नहीं करते। सप्तम समुल्लास के अन्त में पूर्व पक्षी की ओर से वेदों के ईश्वरोक्त होने में शङ्काएं उठाते हुए पूर्व पक्षी कहता है—"प्रश्न-वेद में अश्वमेधादिक यज्ञों की क्रिया जो लिखी है सो जैसी बालकों की बात होय कुछ बुद्धिमानपने की नहीं दीखती क्योंकि घोड़े को सब जगह फिराते हैं उनको कोई जो बांध ले उसमे फिर युद्ध करते हैं सो व्यर्थ युद्ध बना लेते है मित्र से भी ऐसी बात से वैर हो जाता है इत्यादि ऐसी २ बुरी बात जिस में लिखी हैं वह वेद ईश्वर का बनाया कभी न होगा" यदि स्वामी दयानन्द अश्वमेध यज्ञ में घोड़े के मारे जाने के समर्थक होते तो इससे बढ़कर अवसर न था कि वह शङ्का भी पूर्व पक्षी से उठवाकर उसका समाधान करते, परन्तु ऐसा इसीलिए नहीं किया क्योंकि यह प्रसिद्ध था कि वह पशुहिंसाका किसी अवस्थामें भी समर्थन नहीं करते। ऊपर किए प्रश्न का उत्तर कैसा स्पष्ट है—"*उत्तर-ये सब बात मिथ्या है वेद में एक भी नहीं लिखी है किन्तु लोगों ने कहानी बना ली है*" (पृ० २५१, २५२) यह उत्तर स्पष्ट सिद्ध करता है कि पुस्तक लिखाने के समय स्वामीदयानन्द अश्वमेधादि के अर्थ वही करते थे जो संशोधित सत्यार्थप्रकाश में किए हैं, अर्थात्—"राष्ट्रं वा अश्वमेध । शत० १३ । १ । ६ । ३ ॥ अन्नं हि गौः । शत० ४ । ३ । १ । २५ ॥ अग्निर्वा अश्वः आज्यं मेधः ॥ शतपथ ब्राह्मणे ॥ घोड़े गाय आदि पशु तथा मनुष्य मारके होम करना कहीं नहीं लिखा केवल वाममार्गियों के ग्रन्थों में ऐसा अनर्थ लिखा है .... राजा न्याय धर्म्म से प्रजा का पालन करे विद्यादि का देने हारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना अश्वमेध, अन्न, इन्द्रियां, किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना गो मेध, जब मनुष्य मरजाय तब उस के शरीर का विधि पूर्वक दाह करना नरमेध कहाता है" (पृष्ठ ३०५, सप्तमवार) ।

(५) अन्त में जिस लेख की ओर पाठकों का ध्यान खींचने की आवश्यकता है वह आदिम सत्यार्थप्रकाश के ११ वें-समुल्लास में छपा है । पृष्ठ ३८९ पर गाय की सन्तान से जो मनुष्यों को लाभ हो सकते हैं उन की गणना करके लिखा है—"एक गाय से लाख मनुष्यों का पालन हो सकता है उस के मांस से ८० पुरुष तृप्त हो सकते हैं ········ जो बैल आर्यवर्त में पांच रुपयों से आता था सो अब ३०) से भी नहीं आता और कुछ गांव और नगर के पास पशुओं के चरने के वास्ते उस की सीमा में भूमि रखनी चाहिये जिसमें कि वे पशु चरैं जैसी दुग्धादिक से मनुष्य शरीर की पुष्टि होती है वैसी सूखे अन्नादिकों से नहीं होती और बुद्धि भी नहीं बढ़ती" ।

अन्तरीय प्रमाणोंसे यह सिद्ध होगया कि यज्ञमें पशुहिंसा करना स्वामीदयानन्द का मत न था । अब उसी सिद्धान्त की पुष्टि *बाह्य प्रमाणों से की जाती है* । नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होगा कि स्वामी दयानन्द, पहिला सत्यार्थप्रकाश लिखवाने से पहिले और पीछे भी बराबर यज्ञ तक में पशुहिंसा का निषेध करते रहे हैं:—

(१) सम्वत् १९१२ के कुम्भ के मेले में जाकर दयानन्द ने चण्डी पर्वत पर निवास किया और फिर यात्रियों के चले जाने पर ऋषिकेश में कुछ दिन रहे । उसके पश्चात् वह टिहरी (रियासत) पर्वत पर पहुंचे । वहां लिखते हैं कि—"एक पण्डित ने अपने यहां मेरा निमन्त्रण किया और समय पर आदमी बुलाने को भेजा । उसके साथ मैं और [मेरा] ब्रह्मचारी दोनों उसके स्थान पहुंचे । परन्तु मुझको वहां एक पण्डित को मांस काटते और बनाते देख अत्यन्त घृणा हुई । आगे जाकर बहुत से पण्डितों को मांस और हड्डियों के ढेर और पशुओं के भुने हुए शिरों पर काम करते देखा ········ थोड़ी देर पीछे वही मांस भक्षी पण्डित मेरे पास आया और मुझ से निमन्त्रण में चलने को कहा और साथ ही यह भी कहा कि ये मांसादिक उत्तम भोजन आप ही के लिये बनाए गये हैं । मैंने उससे स्पष्ट कह दिया कि ये सब वृथा और निष्फल हैं । आप तो मांस भक्षी हैं । मेरे योग्य तो केवल फलादि हैं; मांस खाना तो दूर रहा मुझे तो इसके देखने से रोग हो जाता है । ········ पण्डित ········ लज्जित हो अपने घर लौट गया"

शायद कहा जाय कि स्वयम् घृणा होने पर भी वह यज्ञ में पशुहिंसा, कदाचित्, मानते होंगे । परन्तु वहां से ही उन्हों ने तन्त्रके ग्रन्थ उपलब्ध किए जिन

में यज्ञ सम्बन्ध में मद्यमांस की विधि थी और लिखते हैं—"पश्चात् मैं वहांसे श्री नगर चल दिया। यहां मैंने केदारघाट पर, एक मन्दिर में डेरा किया। यहांके पण्डितों से जब कभी बात चीत वादानुवाद होता तो, समय पर, उनको इन्हीं तन्त्रों से हरा देता था।" [जीवन चरित्र पृ० १३, १४]

इस प्रकार १९३२ वि० में सत्यार्थप्रकाश छपने से २० वर्ष पहले स्वामी दयानन्द तन्त्रों की पोल खोलते और मांस भक्षण से अत्यन्त घृणा करते थे।

(२) मास मई सन् १८६९ ई० को स्वामी दयानन्द कन्नौज गए। वहांके वृत्तान्त में वक्शी रामप्रसाद लिखवाते है—"मैने कायस्थोंकी उत्पत्ति पूछी कहा कि ये कायस्थ असल में वैश्य हैं क्योंकि ये अपना बड़ा चित्रगुप्त को बतलाते हैं। शास्त्रानुसार वैश्य की उपाधि गुप्त है और कायस्थ उनका नाम इसलिए है कि वह काया का शृङ्गार अधिक करते हैं। द्विज होनेसे पहले समय में ये मद्यमांस सेवी न थे और वैश्य वर्ण में होने से राजकाज के अधिकारी गिने जाते थे। परन्तु मद्यमांस के सेवन करने के कारण वैश्यों से पृथक् होकर उन्होंने स्वयम् अपने आप को शूद्रों में सम्मिलित करलिया यदि उसे (मद्यमांस भक्षण) को छोड़ कर प्रायश्चित्त करें, तो उनका वैश्य बनना कुछ दुर्लभ नहीं।"

(जीवन-चरित्र, पृ० ११०)

(३) सं० १८६९ की वर्षा ऋतु में स्वामी दयानन्द फर्रुखाबाद के भैरवघाट पर उतरे। जीवनचरित्र, पृ० ११३, ११४ में लिखा है—"एक दिन यहां गंगा जी में आधा बदन पानी में किये लेटे हुए थे। इतने में एक मगर बहुत समीप पानी से निकला। ········पं० प्यारेलाल····ने शोर मचाया और भागे कि स्वामी जी मगर निकला है। परन्तु उस वीर [अर्थात् स्वामी जी] के मुख वा शरीर पर कोई वा किसी प्रकार का भय प्रकट न हुआ। जैसे थे वैसे ही पड़े रहे और कहा कि जब हम उस का कुछ नहीं बिगाड़ते तो वह भी हम को दुख न देगा।" थोड़े अंश में भी हिंसा का प्रतिपादन करने से मनुष्य इस प्रकार निर्भय नहीं हो सकता और न घातक जलचरों में वैर त्याग का प्रवेश करा सकता है।

(४) सन् १८७२ ई० के सेप्तेम्बर मास से पटना और बांकीपुर में प्रचार किया। वहां के विषय में लिखा है कि मद्य, मांस का खण्डन करते थे।

(जीवन चरित्र, पृ० १८४)

पहिले लिखा जा चुका है कि प्रयाग में सेप्तम्बर १८७४ के अन्त तक रह कर राजा जयकृष्णदास जी को सत्यार्थप्रकाश लिखवा,स्वामी दयानन्द जबलपुर चले गये। वहांसे नासिक होते हुए २६ अक्तूबर १८७४ के दिन मुम्बई पहुंच गए।

(५) मुम्बई में किसी ने स्वामी जी पर २४ प्रश्न करके छपवाए थे। उन में से प्रश्न संख्या ८ के उत्तर में लिखा है—"पुराण उपपुराण तन्त्र ग्रन्थ इन के अवलोकन और अर्थ में श्रद्धा ही नहीं करता, इन के प्रमाण की तो क्या कथा है

(६) ३१ दिसेम्बर सन् १८७४ को स्वामी जी अहमदाबाद से राजकोट (गुजरात काठियावार) में पहुंचे। पण्डित जीवनराम जी ने बतलाया कि वहां—" कैनिङ्ग कालिज में मांस भक्षण के निषेध में व्याख्यान दिया था " (जीवन चरित्र पृ० २३३)

(७) जुलाई और अगस्त सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द के १५ व्याख्यान पूना नगर में हुए। उन्हें एक भद्रपुरुष ने मराठी में लिख लिया था। उन का अनुवाद आर्यभाषा तथा उर्दू में निकल चुका है। उन में से २० जुलाई को एक व्याख्यान यज्ञ और संस्कार विषय पर हुआ था। उस में से कुछ उद्धरण यहां बहुत उपयोगी होंगे—"क्या सचमुच वेदों में गन्दी कहानियां है वा नहीं? घोड़े को जब फिराते थे तो क्या सारे संसार के राजा इस से शत्रुता करते थे? इस पर हमारा उत्तर है कि शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—अग्निर्वाअश्वः आज्यं मेधः—अश्व के अर्थ अग्नि और मेध के अर्थ घृत, अर्थात् अग्नि में घृत डालना। यही अर्थ ठीक है। इसी प्रकार पूर्वापर देखने से हरिश्चन्द्र, शुनः शेपादि का भी निर्वाह होता है।

"फिर कहा—*और यज्ञ में मांस खाना यह गपोड़ा भी नये पंडितोंने निकाला* है कुछ लोग व्यभिचार के विषय में भी ऐसी ऐसी बातें निकालते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि परियां नहीं हैं? हम रोक रुपया देकर बाज़ार में माल मोल लेवें तो इस में क्या दोष है? तो भाई! सोचो कि क्या ऐसी बातें कहना तुम्हें ठीक मालूम होता है? कदापि नहीं!

" अब थोड़ा सा पुरुषमेध यज्ञ का विचार किया जाता है। यजुर्वेद का मन्त्र है—'ओ३म्। विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।

होम तो देवतों का हो और मांस पशुओं वा मनुष्यों का रक्खें तो कहो कि यह व्यवस्था कैसे ठीक २ हो सकती है । हमें तो निश्चय नहीं होता कि परमेश्वर ऐसी व्यवस्था बनावेगा, क्योंकि इस व्यवस्था में अन्याय भरा पड़ा है। परमेश्वर के प्रबन्ध में इस प्रकार का अन्याय कदापि नहीं है, और इस प्रकार का व्यर्थ हानि का बर्ताव भी नहीं है। देखो ! गऊ जैसे परोपकारी निर्दोष पशु को खाने के लिये वा यज्ञ के लिए मारने से कितनी हानि होती है.............

"इन दिनों मांसाहारियों ने राजबल के सहारे इतना प्रबल हाथ फेरना आरम्भ कर दिया है कि चौपाए बिल्कुल कम होते चले जाते हैं पांच रुपयों का बैल आज पच्चीस रुपयों को हाथ आता है। और दरिद्र लोगों को दूध और घी मिलने में बड़ी कठिनाई पड़ती जाती हैं। जिस देश में मांसभक्षण सर्वथा नहीं है, उस देशमें दूध और घी की अत्यन्त समृद्धि है और उसका ऐश्वर्य बढ़ता रहताहै।

"अब तक तो इस बात का विचार शास्त्र और युक्ति से किया गया कि *पशुओं का बलिदान यज्ञ में नहीं होना चाहिये*। अब इस पर विचार किया जाता है कि *क्या कभी होम मे पशुओं को मारने भी थे वा नहीं ?*

"होम के दो भेद हैं-एक *राजधर्मसम्बन्धी* और दूसरा *सामाजिक*। अब तक हमने सामाजिक होम का वर्णन किया है। राजधर्म सम्बन्धी जो होम है उस की व्यवस्था इस से सर्वथा जुदी है। उस में पशुओं का मारना तो एक ओर रहा, कभी २ मनुष्यों को भी मारना पड़ता है। युद्ध में सहस्रों मनुष्यों के प्राण हरण करना राजधर्म के अनुकूल है। भयानक हिंस्र पशु जो खेती को उजाड़ते वा मनुष्यादि को हानि पहुंचाते हैं, उन को मारना ठीक ही है। क्योंकि जंगली हिंसक पशुओं का मारना अत्यन्त आवश्यक है। *परन्तु होम में मासाहार का घुसेड़ना सदा ही अनुचित है। यह बतलाओ कि किसी प्राणधारी को दुख देना धर्मानुसार कैसे हो सकता है फिर बेचारों का मुंह बंद करके मुक्के मार मारकर उन की जान लेना ईश्वराज्ञा कभी नहीं हो सकती।*" ऊपर के पुष्ट प्रमाणों के होते हुए सिवाय इस के और कोई परिणाम नहीं निकल सकता कि ऋषि दयानन्द कभी भी यज्ञ में पशु हिंसा के समर्थक न थे और इस लिए पहले सत्यार्थ-प्रकाश में इस विषय का आवेश पौराणिक लेखकों की ही लीला थी।

छठा विचार—"आर्यसमाज स्वामी दयानन्द के समस्त ही ग्रन्थों की काट छांट कर रहा है। स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि में भी दो जगह मांस खाना लिखा था उस को समाज ने निकाल डाला और भी कई एक जगह संस्कार विधि में लेख का फेर किया है और यह स्वामी दयानन्द के मरने के बाद हुआ है फिर उस में स्वामी दयानन्द के नाम की कोई भूमिका भी नहीं लगाई जिस प्रकार संस्कारविधि आदि की काट छांट करके स्वामी दयानन्द के नाम से नये ग्रन्थ तैयार किये हैं और हो रहे हैं ऐसे ही द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश भी तैयार किया है फ़र्क इतना है कि सत्यार्थप्रकाशमें भूमिका लगादी और इनमें नहीं लगाई।"

समीक्षा—पहला धोखा इस लेख में यह है कि स्वामी दयानन्द के नाम से नये ग्रन्थ तैयार किये हैं और हो रहे हैं। यह सिद्ध होचुका कि द्वितीयावृत्तिसत्यार्थ प्रकाश ऋषिदयानंद का शोधा हुआ ३६४ पृष्ठ तक उनके सामने छप चुका था और उसकी भूमिका भी वह लिखकर प्रेस में भेज चुके थे। उसकी पुष्टि में और कई पत्रों के प्रमाण दिये जासक्ते हैं। जोधपुर के वर्णन के अभ्यन्तर जीवन चरित्र के पृ० ८६३ पर लिखा है—"फिर एक बजे से सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि की कापियां, जो छपी आती हुई थीं उनको शोधते थे।"। इस समय और कोई नया ग्रन्थ उनके नाम से बतलाया नहीं गया और न कालूरामजी ने किसी ऐसे ग्रन्थ का नाम लिया है। बाकी रही संस्कार विधि, सो उसकी प्रथमावृत्ति में बृहदारण्य कोपनिषत् का "मांसौदनं पाचयित्वा" वाला वाक्य लिखा गया था। परन्तु उसके नीचे नोट भी दे दिया गया था। कि यह "एक देशी मत" है और फिर द्वितीयावृत्ति में उस सन्दिग्ध वाक्य को भी निकाल दिया। बृहदारण्यक के उस वाक्य पर उपनिषद् भाष्य में विचार होगा इसलिए उसके विस्तार में यहां जाना उचित नहीं। यहां प्रश्न केवल यह है कि क्या संस्कार विधि का द्वितीय संस्करण आर्य समाजियों ने काट छांट कर निकाला वा स्वामी दयानन्द के सामने ही उन से संशोधित होकर छपने के लिए दे दिया गया था? कालूरामजी कहते हैं कि उसमें स्वामी दयानन्द की ओर से कोई भूमिका भी नहीं लगाई गई, इसलिए वह संस्करण स्वामी दयानन्द का नहीं। न जाने ऐसी मिथ्या बात कालूराम जी ने क्यों लिखदी। हम यहा संस्कार विधि की भूमिका अक्षरशः देते है "भूमिका-सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों

के अनुरोध करने से श्रीयुत महराजे विक्रमादित्य के सम्वत् १९३२ कार्तिक कृष्ण पक्ष ३० शनिवार के दिन संस्कार विधि का प्रथमारम्भ किया था उसमें संस्कृत पाठ एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखाथा। इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्योंको संस्कृत और भाषा दूर २ होने से कठिनता पड़ती थी। और जो १००० हजार पुस्तक छपे थे उनमें से अब एक भी नहीं रहा, इसलिए श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के सम्वत् १९४० आषाढ़ बदी १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया, अबकी बार जिस २ संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण वचन और प्रयोजन है वह २ संस्कार के पूर्व लिखा जायगा तत्पश्चात् जो २ संस्कार में कर्तव्य विधि है उस २ को क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिए वह लिखा है और जो *विषय प्रथम अधिक लिखा था उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है और अबकी बार जो २ अत्यन्त उपयोगी विषय है वह २ अधिक भी लिखा है*—इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था और युक्त छूट गया था उसका संशोधन किया है किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था उसमें सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी इसलिए अब सुगम कर दिया है क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे साधारण नहीं। इसमें सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये वह प्रथम सामान्य प्रकरण में लिख दिया है और जो मन्त्र व क्रिया सामान्य प्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देख के सामान्य विधि की क्रिया वहां सुगमता से कर सकें और सामान्य प्रकरण की विधि भी सामान्य प्रकरण में लिखदी है अर्थात् वहां की विधि करके संस्कार का कर्तव्य कर्म करे और जो सामान्य प्रकरण का विधि लिखा है वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक बार करना होगा जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्तव्य है वैसे वह सामान्य प्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में बारबार न लिखना पड़ेगा इसमें प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शांतिपाठ तदनन्तर सामान्य प्रकरण पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहां सब मंत्रों का अर्थ नहीं लिखा है क्योंकि इसमें कर्म-

काण्ड का विधान है इसलिए विशेष कर क्रिया विधान लिखा है और जहां जहां अर्थ करना आवश्यक है वहा २ अर्थ भी कर दिया है और मंत्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें यहां तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होसकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।''

इस भूमिका के साथ मृतक श्राद्ध वाले विज्ञापन को मिलाइए तो स्पष्ट सिद्ध होगा कि सत्यार्थ प्रकाश की तरह संस्कारविधि में भी जो जो अन्य ग्रन्थों के वाक्य वेद विरुद्ध सिद्ध हों वे स्वामी दयानंद अप्रमाण ही करते थे। अतएव कालूरामजी का यह विचार भी उनके मत का समर्थक नहीं सिद्ध होता।

लेखकों की और लीला।

सत्यार्थ प्रकाश के पौराणिक लेखकों की एक और लीला के संक्षिप्त वर्णन के साथ यह प्रकरण समाप्त होगा। यह लीला *यज्ञोपवीत संस्कार के विषय में है।* तृतीय समुल्लास के आरम्भ में लिखा है-"आठ वर्ष के पुत्र और कन्याओं को पाठशाला में पढ़ने के लिए आचार्य के पास भेज देवें अथवा पांचवें वर्ष भेज देवें घर में कभी न रक्खें परन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इनके *बालकों* (यहां बालक शब्द सन्तान के अर्थ में आया है) का यज्ञोपवीत घर में होना चाहिए (इसी लिए शूद्रों की संतान का यज्ञोपवीत सदा गुरुकुलों में ही होता है क्योंकि पहले आचार्य का निश्चय होना चाहिए कि वे पढ़ सकेंगे) पिता यथावत् यज्ञोपवीत करे पिता ही उनको गायत्री मन्त्र का उपदेश करे गायत्री मंत्र का अर्थ भी यथावत् जना देवे" (पृ० ३६) इसके पश्चात् पृष्ट ३८ की ७ वीं पंक्ति तक गायत्री मन्त्र के अर्थ, व्याख्या सहित, लिखे हैं। गायत्रीमंत्र और उसके अर्थ का उपदेश उन्हीं को किया जाता है जिन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार हो। इसको पृ० ३८ कीपंक्ति ७ के अन्त से यों बतलाया है-इस मंत्रको पुत्रों को और कन्याओं को भी कण्ठस्थ करा देवें (केवल इतना ही नहीं) और इसका अर्थ भी हृदयस्थ करादेवें" यहां पौराणिक लेखकने देखा कि गज़ब होगया। अब कन्याएं भी उपवीता होंगी, उसने झट बीच में ठोंस दिया—"परन्तु कन्या लोगों का यज्ञोपवीत कभी न कराना चाहिए और संस्कार तो सब करना चाहिए'' कैसा असंगत लेख है।

यज्ञोपवीत छोड़कर अन्य सब संस्कार कन्याओंके करने चाहिएं। वेदारम्भ भी तो अन्य संस्कार है। फिर जिसका वेदारम्भ होगा और उसे वेद का अधिकार होगा और जो उत्तम से उत्तम विद्या से भी वंचित न होगी उसका यज्ञोपवीत संस्कार न हो—यह ऋषि दयानंद का मत नहीं होसकता। पौराणिक पंडितके इस लेखका असंगत होना आगे की इबारत से सिद्ध है। उसमें फिर पुत्रों और कन्याओं के प्रति पिता को निम्न लिखित उपदेश देना लिखा है—"योगशास्त्र की रीति से प्राणों के और इन्द्रियों के जीतने के लिए उपाय का उपदेश करें" इसके साथ नीचे दिये लेख को मिलाइये जो पृ० १३९ पर दिया है—"सब मनुष्यों के बीच में जो स्त्री और पुरुष मूर्ख होयं उनका यज्ञोपवीत भी हुआ हो तो उसको तोड़के शूद्र कुल में करदें। इनका परस्पर यथायोग्य विवाह भी होना चाहिए।" बुद्धिमान् पाठक विचारें कि यदि कन्याओं को यज्ञोपवीत का अधिकार न मानते तो मूर्ख होने पर उनके यज्ञोपवीत तुड़वाने का विधान न करते।

स्वामी दयानन्द का असलीमत यही था कि कन्याएं भी यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत हो कर ही आचार्य कुल में प्रविष्ट हुआ करें यह उनके पूना वाले संस्कारों पर दिए व्याख्यान से स्पष्ट होता है। सातवें व्याख्यान का विषय था "यज्ञ और संस्कार"। उस में स्वामी दयानन्द ने कहा—*व्रत बन्ध अर्थात् यज्ञोपवीत*—यज्ञोपवीत के विशेष नियम इसलिए नियत किए गए हैं कि मनुष्यों को विद्याभ्यास आरम्भ करते हुए उत्साह उत्पन्न हो। स्त्रियों को भी पुराकाल में विद्या प्राप्ति का अधिकार था और उस के *अनुसार उन का भी व्रत बन्ध संस्कार पहले हुआ करता था*..........."

इस बात के चिन्ह, कि पुराकाल में कन्याओं को भी यज्ञोपवीत दिया जाता था, अब तक भी हिन्दुओं की कुछ जातियों में पाया जाता है। पंजाब के खत्रियों में और सारस्वत ब्राह्मणों के कुछ कुलों की यह रीति है कि जब तक एक लड़का कुमार रहे तब तक वह यज्ञोपवीत का एक अंग ही पहिरता है, परन्तु जब विवाह का दिन आता है तो उसे दूसरा अंग पहिराया जाता है। यह किस ऐतिहासिक घटना की साक्षी है। पहले सब कन्याओं को यज्ञोपवीत देकर आचार्य कुल में प्रविष्ट किया जाता था। यदि गार्गी आदि की तरह कोई देवी आदित्या हो कर भी ब्रह्मचारिणी रह ब्रह्मवादिनी होती वह बराबर यज्ञोपवीत को धारण

किए रहती, परन्तु जो विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती उस का यज्ञोपवीत पुरुषों के अत्याचार के कारण पति की रक्षा में दे दिया जाता। यह प्रथा उस समय से चली प्रतीत होती है जब से मनुस्मृति में पति सेवा ही एक मात्र स्त्री का धर्म बतलाया गया। फिर क्रमशः पुरुषों के अत्याचारों से स्त्रियों का ब्रह्मचर्य धारण करने का अधिकार छिन गया और कुल्लूक से पक्ष पातियों ने 'गुरौ वासो' के अनर्थ कर दिये, इस पर स्वामी दयानन्द जी लिखते हैं—"और विवाह के पहले 'गुरौ वास' नाम स्त्री लोग पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम करें..........जो विद्या न पढ़ी वा आप न जानती होगी तो अग्नि होत्रादिक यज्ञ और घर के सब कार्य्य कैसे करेगी"

स्वामी दयानन्द स्त्रियों को यज्ञोपवीत का अधिकार मानते थे, इस की पुष्टि पहले सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास के उस लेख से होती है जिस में मुसलमानों के अत्याचार के पश्चात् अग्नि कुल के चार क्षत्रियों की उत्पत्ति का वर्णन उन्होंने किया है। उन चारों क्षत्रियों के लिए चार कन्याओं को इस प्रकार तय्यार किया गया—"और उन पण्डितों की स्त्रियों ने ऐसे ही चार कन्या रूप गुण सम्पन्न उन को अपने पास रख के व्याकरण, धर्म शास्त्र, वैद्यक, गानविद्या तथा नाना प्रकार के शिल्पकर्म उन को पढ़ाए और व्यवहार की शिक्षा भी उनको किया तथा युद्ध विद्या की शिक्षा गर्भ में बालकों का पालन और पति सेवा का उपदेश भी यथावत् किया" हमने यहां स्थानाभाव से केवल एक प्रमाण और दिया है जहां पौराणिक कुटिलता ने अनर्थ कर दिया है। ऐसे छोटे २ और भी उदाहरण मिल सकेंगे जिन से सिद्ध होगा कि आदिम सत्यार्थप्रकाश में लेखकों की लीला से बहुत कुछ अनर्थ का यत्न हुआ है। अब भी आर्य समाज की संस्थाओं का कर्तव्य है इस अपूर्व ग्रन्थ का ठीक संशोधन करके इस को फिर से छपवादें जिस से पौराणिक पण्डित सर्व साधारण को भ्रम में न डालते रहें। यहां पं० कालूराम की कल्पनाओं और उन की पुष्टि में छः विचार रूपी उपकल्पनाओं की समाप्ति हो गई, और वह यह सिद्ध करने में कृतकार्य न हुए कि द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द का बनाया नहीं। दूसरी ओर से यह सिद्ध कर दिया गया कि स्वामी दयानन्द के मन्तव्य बदले न थे प्रत्युत लेखकों की धूर्तता से ऐसा सन्देह सा था जो अब छिन्न भिन्न हो गया।

आर्यसमाज के सिद्धान्त ।

परन्तु प्रश्न यह है कि पौराणिक कालूराम जी ने इसकी इतनी छान बीन क्यों की ? उनकी सम्मति दोही प्रकार की हो सकती है । या तो वह यज्ञ में पशु हिंसा का विधान वेद विरुद्ध समझते हैं और या वेद विहित । यदि वेद विरुद्ध समझते हैं तो नए सत्यार्थ प्रकाश में उस सिद्धांत को देख कर उन्हें प्रसन्न होना चाहिये । और यदि वेद विहित समझते हैं तो क्या स्वामी दयानन्द का मत होने से ही उन्हें वह ग्राह्य है ? वा वास्तव मे वेदानुकूल होने से । यदि स्वामी दयानन्द का यह सिद्धांत होने से ही उनको स्वीकार है तो फिर प्रथम सत्यार्थप्रकाश में लिखे उनके सब सिद्धान्तों को मान लेना चाहिये । यह बात स्वयं कालूराम जी को खटकी है, इसलिए वह अपने विचार की समाप्ति पर लिखते हैं ।

"कई एक सज्जन कह उठावेंगे कि आज आपको हो क्या गया आपतो सर्वदा स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को वेद विरुद्ध ईसाइयों के सिद्धान्त कहते और लिखते हैं और बार बार यह कहा करते हैं कि स्वामी दयानन्द के जाल से बचना इनका मत वेद मत नहीं है । फिर आज आप स्वामी दयानन्द का पक्ष क्यों लेते हैं । हम पक्ष नहीं लेते परन्तु हम संसार को वेद सिद्धान्त और दयानन्द सिद्धांत दोनों को मिलाकर दिखलाते हैं कि स्वामी दयानंद के सिद्धान्त वेद विरोधी सिद्धान्त हैं । बेशक किसी के सिद्धान्त की समालोचना करना या उसके स्वतः प्रमाण पुस्तक से मिलाकर फर्क (अन्तर) को दिखलाना पाप नहीं किंतु धर्म है क्योंकि इससे वेद धर्म की रक्षा होती है । यदि ऐसा न किया जावे तो कितने ही साधारण मनुष्य स्वामी दयानंद के मत को वेद धर्म समझ कर वैदिक धर्मका नाश कर बैठेंगे यदि आर्य समाजी ऐसा करें तो हम उनको कभी बुरा नहीं कह सकते किन्तु यह तो स्वामी दयानन्द के सिद्धांतों को ही बदलते हैं कि स्वामी दयानन्द के वे सिद्धान्त नहीं थे किन्तु ये हैं ऐसा करना अयोग्य और मनुष्य के अधिकार से बाहर है कोई मनुष्य किसी मनुष्य के लेख में न्यूनाधिक करने का अधिकार नहीं रखता । मनुष्य अधिकार से बाहर निकल कर जब स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों का चकनाचूर किया जाता है तब हमको भी यह सूझा कि हम इस विषय को संसार के सन्मुख रक्खें ।"

ऊपर की इबारत के गोरख धन्धे को क्या कोई सुलझा सकता है ? स्वामी दयानंद के सिद्धान्त ईसाइयों के सिद्धांत हैं यह कालूराम जी की सम्मति है; तो यज्ञ में पशु हिंसा ईसाइयों का सिद्धांत ठहरा। फिर यदि यही मान लिया जाय कि आर्यसमाजियों ने ही इस सिद्धांत को बदल कर वेदानुकूल कर दिया तो आप आर्यों से इतने रुष्ट क्यों हैं। और यदि वास्तव में स्वामी दयानन्द यज्ञ में पशु हिंसा मानते भी थे और अपनी मृत्यु से पहले इस विषय में अपने सिद्धांत बदल गए तौ भी आपको प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करनी चाहिए। परन्तु आप दोनों में से किसी अवस्था में भी सन्तुष्ट नहीं। आपकी वही दशा है जो एक आपापन्थी की हमने देखी थी। एक दिन वह ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन कर रहे थे। हमने उनकी युक्तियां सुनीं और चलेगए। तीसरे दिन क्या देखतेहैं कि बाज़ार में खड़े एक नास्तिक को ईश्वर सिद्धि करके दिखा रहे हैं। हमने हैरानी से पूछा-" महाशय! ईश्वरवादी कब से बने ? " उत्तर मिला—" भाई! कोई पक्ष सामने लो हमतो उसका खण्डन ही करेंगे। हमारा निजमत कोई नहीं है। " दूसरा और उदाहरण लीजिए। जालन्धर के एक प्रसिद्ध पंडित के भतीजे काशी से विद्या पढ़ कर आए; दो तीन अन्य पण्डितों की उपस्थिति में मूर्त्तिपूजा पर उन से बात चीत चल पड़ी। जब वह दलील में पकड़े गए और उन की विद्वत्ता को अपील की गई तो बोले—"यह तो हमने मतवादियों की सी बात की है, नहीं तो विद्यापक्ष में तो ईश्वरसिद्धि का ही हम खण्डन करेंगे। "

यहां कालूराम जी भी लाचार है। मूर्खों से टके मिलते हैं स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को गालियां देकर, फिर कालूराम जी को सत्यासत्य के निर्णय से क्या मतलब! उन्हें तो 'सोलहो कला सम्पूर्ण' चाहिए।

हां, एक बात कालूराम जी की हम मानते हैं—वह यह कि संशोधित सत्यार्थ-प्रकाश में प्रमाणों के पते आदिक वा शब्द शुद्धि विषयक परिवर्तन, जो किसी २ संस्करण में किए गए है, वह ठीक नहीं। ऐसे परिवर्तन, हेतु देकर, फुट नोटों द्वारा होने चाहिएं। ऋषि दयानन्द स्थापित परोपकारिणी सभा के गताधिवेशन में यही प्रश्न उपस्थित था और निश्चय किया गया था कि जिस सत्यार्थ-

प्रकाश की हस्त–लिखित पुस्तक के प्रायः पृष्ठों पर ग्रन्थकर्त्ता के हस्ताक्षर हैं उसी के अनुसार सत्यार्थ प्रकाश आगामी बार छाप देना चाहिए। इस संशोधन के लिए अजमेर के कुछ महाशयों की एक उपसमिति भी नियत हुई थी, परन्तु यह पता नहीं लगा कि उन्होंने अब तक क्या काम किया है। यह काम ऐसा आवश्यक है कि यदि इस के लिए हम से सहायता लेना स्वीकार हो तो हम और सब काम छोड़ कर उसी काम को, लग कर, समाप्त कर सकते हैं। आवश्यकता केवल इतनी है कि सहकारी मन्त्री जी सत्यार्थप्रकाश की सारी हस्तलिखित पुस्तक सावधानी से रजिस्ट्री करा के हमारे पास भेज दें और साथ ही सब बार के छपे हुए पुस्तक की एक एक प्रति मुक़ाबिला करने के लिए। मिलान के सुभीते के लिए केवल एक संस्कृतज्ञ आर्य विद्वान् को वेतन पर रखना होगा।

जिन परिवर्तनों की गणना कालूराम जी ने की है वह हैं साधारण, परन्तु किसी ग्रन्थ में अपना संशोधन घुसेड़ने का किसी को भी अधिकार नहीं और न ही आवश्यक है। शायद कुछ आर्य पुरुषों का यह ख़याल हो कि ऋषि दयानन्द के जो सिद्धान्त वा मन्तव्य सिद्ध होंगे उन से आर्य समाज बद्ध है और इस लिए जो कुछ भी स्वामी दयानन्द की पुस्तकों में उन्हें अशुद्ध प्रतीत होता है उसे अपनी समझ के अनुसार शोधना उन का कर्त्तव्य है। परन्तु यह उनकी सर्वथा भूल है। आर्य-समाज का मन्तव्य क्या है वा दूसरे शब्दों में आर्य समाज के सिद्धान्त वा आर्यसमाजका मत क्या है? कालूराम जी और उन जैसे अन्य पौराणिक पण्डितों को, ऐसे ही आर्य पुरुष, सर्व साधारण को धोखे में डालने का अवसर देते हैं। ऐसे आर्य सज्जनों को जो कुछ स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में असंगत वा भ्रमोत्पादक लेख दीख पड़ें उनपर, अपनी सम्मति अपने ट्रैक्ट वा लेख द्वारा अलग दे दिया करें। सम्भव है कि पीछे अधिक विचारने से स्वामी दयानन्द का लेख ही युक्ति और प्रमाण युक्त सिद्ध हो — जैसा कि कई बार हुआ है।

हम अपने आर्य जातिस्थ (हिन्दू) भाइयों के सामने सिद्धान्त विषय में आर्य समाज का पक्ष स्पष्ट शब्दों में रखना चाहते हैं जिससे कालूरामादि के डाले हुए सन्देहों से मुक्त होकर वे सत्यासत्य की विवेचना कर सकें। आर्यसमाज का

मन्तव्य क्या है इसको आर्यसमाज का प्रवर्तक ही ठीक प्रकार से बतला सकता है। आर्य समाज की बुनियाद दस नियमों पर रक्खी गई थी। उनमें से अन्तिम सात तो ऐसे हैं जिनमें किसी को भी विवाद नहीं। प्रथम नियम में भी आर्य जाति के किसी सभ्य को कुछ वक्तव्य नहीं हो सकता। द्वितीय नियम में जो ईश्वर का निरूपण किया गया है, उसके साथ भी आर्य जाति के सब सभ्य सहमत होंगे। भेद आगे प्रतीकोपासना की विधि में होता है। तीसरे नियम का आशय यह है कि *वेद ही ईश्वराज्ञा है* जिसका, मनुष्यों की पथ दर्शकता के लिए, सृष्टि की आदि में प्रकाश हुआ। इस लिये आर्यसमाज धर्म के लिए वेद को ही परम प्रमाण मानता है। मनु भगवान् ने भी परमधर्म वेद को ही बतलाया है। अपने आत्मा की साक्षी धर्म का पहला और सब से निचले दर्जे का निरूपक है, उस से उपरले दर्जे का पथ दर्शक सदाचार अर्थात् साधु पुरुषों का आचरण है। उस से भी बढ़कर ऐसे साधु पुरुषों में जो मन्त्र द्रष्टा ऋषि हैं, उन्हों ने ध्याना-वस्थित होकर योगसमाधि में जो विचार किया और उसका जो स्मरण शेष रहा उसका लेख बद्ध प्रचार स्मृति कहलाती है। मनु महाराज कहते हैं—

श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथा स्मृति।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि॥

परन्तु सबसे बढ़ कर परम—आप्त परमात्मा है, इस लिए उसकी वाणी वेद को परम प्रमाण मान कर उसकी अनुकूलता से ही अन्य तीन प्रमाणों का प्रमाणत्व है। मनु महाराज कहते हैं—

वेदोऽखिलो धर्म मूलं स्मृति शीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेवच॥

फिर कहा है—*धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमंश्रुतिः*। मनु जी ने आगे चलकर फिर साफ़ कर दिया है कि जहां कहीं धर्मोपदेश में श्रुति स्मृति में विरोध दीख पड़े तो वहां धर्म वही समझा जायगा जिसे श्रुति कहती है। इस लिये स्वामी दयानन्द के लेखों को भी आर्य समाज साक्षिवत् प्रमाण मानता है। उनमें भी यदि कोई बात वेद विरुद्ध सिद्ध होजाय तो वह आर्य समाज का मन्तव्य नहीं रहेगा।

अपनी इस प्रतिज्ञा को हम ऋषि दयानन्द के ही कथन और लेख से सिद्ध करते हैं—

(१) सं० १८७९ के जुलाई मास में स्वामी दयानन्द मुरादाबाद पधारे थे तो वहां के वृत्तांत में लिखा है:—

" फिर स्वामीजीने सब लोगों से फ़रमाया कि भाई तुम सबका मत वेद है। अगर ऐसा कहोगे कि हम दयानंद स्वामी के मत में हैं तो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि दयानन्द स्वामी और उनके गुरु का क्या मत है तो तुम जवाब नहीं दे सकोगे।"

(जीवन चरित, पृ० ४३६)

(२) उसी सन् के अक्टूबर मास में आचार्य दयानंद फर्रुखाबाद गए। वहां के पंडितोंने २५ लिखित प्रश्न भेजे। उनमें से १७वें प्रश्न का पूर्व भाग यह था "यदि मुहम्मदी वा ईसाई मतानुयायी कोई आपके अनुसार है और आपके मत में दृढ़ विश्वासी है तो आपके मतानुयायी उसको ग्रहण कर सक्ते हैं वा नहीं?" इसके उत्तर में आचार्य ने लिखा—"विना वेदों के हमारा कोई कपोल कल्पित मत नहीं है, फिर हमारे मतानुसार कोई कैसे चल सक्ता है ?"

(जीवन चरित्र, पृ० ४८७)

(३) जब पहली बार सन् १८७४ ई० के अक्टूबर मासमें स्वामी दयानंद मुम्बई पहुँचे तो उनपर २४ प्रश्न करके मुद्रित कराए गए थे। उनमें से सोलहवें प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखवाया था— "मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ प्रत्युत वेद का अनुयायी हूँ-ऐसा समझना चाहिये।" उसी प्रश्न-माला के तीसरे प्रश्न के उत्तर में लिखवाया था—"चार संहिताओं को प्रमाण मानता हूँ, परन्तु परिशिष्ट को छोड़कर। ब्राह्मणादिकों को मैं मत के तौर पर स्वीकार नहीं करता। परन्तु उनके कर्ता जो ऋषि हैं, उनकी वेद विषय में कैसी सम्मति है यहजानने के वास्ते उनका स्वाध्याय करता हूं कि उन्होंने कैसा अर्थ किया है और उनका क्या सिद्धांत है" पांचवें प्रश्न के उत्तर में लिखवाया—'शिक्षादिक जो वेदाङ्ग हैं और उनके कर्ता जो मुनि हैं, उनकी वेद विषय में कैसी सम्मति है—यह जानने के वास्ते देखता हूं उनको मत मान करके स्वीकार नहीं करता।" ग्यारहवें के उत्तर में लिखवाया-"मनुस्मृति

को मनु का मत जानने के वास्ते देखता हूं, उसको इष्ट समझकर नहीं।"
(जीवन चरित्र पृ० २२७)

सत्यार्थ प्रकाश के सातवें सम्मुल्लास के अंतमें लिखा है-"वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए। और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि *हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं।*"

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आर्य समाज का मत, मन्तव्य वा सिद्धांत कुछ भी कहो- वेद ही है। तब स्वामी दयानंद के लेखों और मन्तव्यों पर विवाद से क्या मतलब ? स्वामी दयानन्द इस समय के वैदिक आचार्य थे। उनके सत्यार्थ-प्रकाश का भी उतना ही मूल्य है जितना पूर्व स्मृतिओं का अर्थात् जो स्मृति वाक्य वेद विरुद्ध हो वह माननीय नहीं, उसका वेदार्थ से संशोधन होसक्ता है।

आर्यसमाज का सर्वस्व वेद है

सनातन धर्म महामण्डल की ओर से भी यही घोषणा निकल चुकी है कि आर्य (हिन्दू) मात्र के लिए वेद ही परम प्रमाण है। फिर व्यर्थ के अन्य विवादों से क्या मतलब ? और बहुत से पुराने विवाद तो समाप्त भी होचुके हैं। जिस समय आचार्य दयानन्दने उत्तर, पश्चिम, पूर्व और मध्यभारत में धूम मचादी थी उस समय से आज तक कितने परिवर्त्तन हो चुके हैं।

(१) उस समय स्त्री और शूद्र को पढ़ाना पाप समझा जाता था। इसी लिए पौराणिक लेखक ने सत्यार्थ प्रकाश के भाव को बदलना चाहा। उसके पश्चात् तक स्त्री शिक्षा का कितना विरोध हुआ। परन्तु आज सनातन धर्म सभाएं पुत्री पाठशालाएं खोलती हैं। जिस समय जालन्धर में कन्या महाविद्यालय खुला था। उस समय पौराणिकों ने विरोध में आकाश पाताल एक कर दिया था। परन्तु इस समय के सनातनियों में कितनी ग्रेजुएट और शास्त्री और विशारद स्त्रिएं हैं? आज शूद्रों को विद्या से कौन वंचित रखता है ? अछूतों तक के लिए पाठशालाएं खुली हैं और उन में उदार हिन्दु काम कर रहे हैं जो न आर्य समाजी हैं और न ब्रह्म समाजी।

(२) काशीनाथ के शीघ्रबोध को आज कौन मानता है ? पहले सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी दयानन्द ने लिखवाया है-"काशीनाथ की बात कभी न माननी

चाहिए जो उसने यह बात लिखी है कि कन्या रजस्वला होने से पितादि नरक में जायेंगे............इस काशीनाथ का नाम *काशिनाथ* रखना चाहिए क्यों कि काशि नाम प्रकाश का है इसने विद्यादि गुणों का नाश कर दिया इस से इस का नाम काशिनाथ ही ठीक है" आज वही बात प्रत्यक्ष देखने में आती है। आर्य समाज के अनुकरण में बालकों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम खुल रहे हैं। बड़ी आयु में कन्याओं का विवाह होने लग गया है। आशा है कि उन का व्रत बन्ध संस्कार भी नियमानुसार होने लग जायगा।

(३) काशी के शास्त्रार्थ में वेद से मूर्त्तिपूजन का विधान स्वामी विशुद्धानन्द तथा बालशास्त्री आदिक भी यद्यपि न निकाल सके तथापि हठ तो था कि वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान है। परन्तु २५ वर्ष व्यतीत हुए जब नवाशहर में पं० आर्यमुनि ने वेदों से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने के लिए सनातनिस्टपण्डितों को ललकारा तो स्वर्गीय गोस्वामी रघुबरदयालु जी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि वेदों से मूर्त्ति पूजा निकालने का प्रयत्न ऐसा है जैसा आक के वृक्ष से आम के फल की याचना। इस समय मूर्त्ति को ईश्वर मान कर कोई सनातनी पण्डित पूजा नहीं करता, पण्डित दल कहता है कि वह मूर्त्ति में ईश्वर की पूजा करते हैं। आज प्रतीकोपासना को ही मूर्त्ति पूजा की आड़ बनाया जाता है। अब मत भेद केवल इतना है कि सनातनी पण्डित तो आदमी की घड़ी मूर्त्तियों में परमेश्वर को ढूंढ़ने का उपदेश देकर रोक दक्षिणा रखवाते हैं, परन्तु आर्य-समाजी उस की उपासना के लिए उसी की सृष्टि की विविध सुन्दर और विचित्र रचनाएं प्रतीक बनाने का प्रचार करते हैं। इस समय इतना ही मत भेद है, तब इतने पर भी प्रीति पूर्वक विचार होना चाहिए।

(४) मुर्दों के श्राद्ध का विषय लें तब भी बड़ा परिवर्तन देखने में आता है। अब पौराणिक पण्डित मृतक श्राद्ध के समर्थक नहीं, अब उन्होंने उस का नाम 'पिण्डपितृ यज्ञ' रख लिया है। कारण यह है कि वेद में श्राद्ध शब्द ही नहीं मिलता। जब पुरानी प्रतिज्ञा ही बदल ली गई तो फिर पुरानी किताबों पर विवाद व्यर्थ है।

(५) आश्रम धर्म विषय में तो पहिले भी कोई विरोध न था। हां, आंशिक मतभेद था जो सर्वथा दूर हो चुका है। ब्रह्मचर्याश्रम स्वयम् सनातनिस्ट भाई

खोलने लग गये हैं, गृहस्थ का आदर्श जैसा ऊंचा, मनु भगवान् की साक्षी से स्वामी दयानन्द ने स्थापित किया था उसी का समर्थन लोकमान्य तिलक महाराज भी कर रहे हैं । वानप्रस्थ की प्रथा का फिर से प्रचार करने के दोनों समाज पक्षपाती दिखाई देते हैं । संन्यास के अर्थों पर पहले कुछ विवाद था । हमारे सनातनी भाई सर्व कर्म त्याग का नाम संन्यास धरते थे और स्वामी दयानन्द अपने आचरण और लेख से बतलाते थे कि संन्यासी को केवल कर्म फल का त्याग चाहिये । कर्म का सर्वथा त्याग संन्यास धर्म का अंग नहीं हो सकता क्यों कि परमात्मा का, यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में, उपदेश है कि कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने (पूर्ण आयु भोगने) की इच्छा करो—*कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंꣳसमाः* । तब संन्यासाश्रम के अन्तिम २५ वर्ष भी वैदिक कर्म करते हुए ही व्यतीत करने चाहिए । स्वामी दयानन्द लिखते हैं—" (प्रश्न) सन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कर्त्तव्य नहीं, अन्न वस्त्र लेकर आनन्द में रहना, अविद्या रूप संसार से माथापच्ची क्यों करना········ और आप ने विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूठी मानें ? (उत्तर) क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं देखो " वैदिकैश्चैवकर्मभिः " मनुजी ने वैदिक कर्म जो धर्म युक्त सत्यकर्म है संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है *क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे ?* जो ये कर्म नहीं छूट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से क्या वे पतित और पाप भागी न होंगे ? *जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या महापापी न होंगे ?* "

अब देखिये अपने अपूर्व नए ग्रन्थ " *गीतारहस्य* " में तिलक महाराज संन्यास का अर्थ सर्व कर्म त्याग मानने वालों को कैसे सम्बोधन करते हैं—"यह सर्व श्रुत है ही कि व्यास ने विचित्रवीर्य के वंश की रक्षा के लिए धृतराष्ट्र और पाण्डु, दो क्षेत्रज पुत्र निर्माण किए थे और ३ वर्ष तक निरन्तर परिश्रम करके संसार के उद्धार के निमित्त उन्होंने महाभारत को लिखा है, एवं कलियुग में स्मार्त अर्थात् संन्यास मार्ग के प्रवर्तक श्री शङ्कराचार्य ने भी अपने अलौकिक ज्ञान तथा *उद्योग से धर्म स्थापना का काम किया था* " (पृ० ३१५)

फिर—" कई लोगों को ये दोनों सिद्धांत परस्पर–विरोधी जान पड़ते हैं

कि, ज्ञानी पुरुष को कर्त्तव्य नहीं रहता और कर्म नहीं छूटसकते, परन्तु गीता की बात ऐसी नहीं है। गीता ने उसका यों मेल मिलाया है —जब कि कर्म अपरिहार्य है, तब ज्ञान- प्राप्ति के बाद भी ज्ञानी पुरुष को कर्म करना ही चाहिए चूंकि उसको स्वयं अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता, इसलिये अब उसे अपने सब कर्म निष्काम बुद्धि से करना ही उचित है।" (पृ० ३२२)

इस समय वैसे भी देखा जाता है कि जो संन्यासी परमहंस पहले मस्त रहना ही अपना धर्म समझते थे अब धर्मोपदेश देने के लिये भी आगे आते हैं। मठ-धारी लोग यद्यपि गृहस्थों से बढ़कर भोगी हैं और संन्यासी कहलाने के अधिकारी नहीं, तथापि वह भी अब पाठशालाएं आदि खोलने और परोपकार के कार्यों में भाग लेने के लिये बाधित हो गए हैं। यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि वैदिक सचाई आलस्य प्रमाद और स्वार्थ पर विजय प्राप्त कर रही है।

(६) वर्ण व्यवस्था के विषय में कालूराम जी तथा पं० गिरधर शर्मा से वकील आजीविका के लिये चाहे शास्त्रार्थ का ढौंग कितना ही रचें, परन्तु अमल से आर्यजाति यही प्रगट कर रही है कि निरक्षर भट्टाचार्य से सेवा का ही काम लेना चाहिये। परन्तु लेख में भी पौराणिक भागवत धर्म के समर्थक और सनातनधर्म के स्तम्भ पं० बालगंगाधर तिलक ने वर्ण व्यवस्था को गुणकर्मानुसार बतलाते हुए उसको जन्मानुसार मानने के दोष भी दिखला दिये हैं। तिलकमहाराज गीता रहस्य के पृ० ६५ पर लिखते हैं—" पुराने जमाने के ऋषियों ने *श्रम विभागरूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें*, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओं से संरक्षण और पोषण भलीभाति होता रहे। *यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गए*, अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाजधारणार्थ ही की गई थी, और यदि चारों वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्त्तव्य छोड़दे, अथवा यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय *और उस की स्थानपूर्ति दूसरे लोगों से न की जाय* तो कुल समाज उतना ही पंगु होकर धीरे २ नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्था में तो अवश्य ही पहुंच जाता है।"

इस के साथ स्वामी दयानन्द के लेख की तुलना कीजिये तो आश्चर्यजनक समता प्रतीत होगी। सत्यार्थप्रकाश के पृ० ९३ पर लिखा है—"जिस २ पुरुष में जिस २ वर्ण के गुण कर्म हों उस २ वर्ण का अधिकार देना, ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे तो शूद्र हो जायंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों का उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा।"

अब निष्पक्षपात सज्जन न्याय की दृष्टि से देखें कि दयानन्द का मन्तव्य किस प्रकार वेदानुकूल सिद्ध हो रहा है॥

(७) एक बड़ा भेद यह था कि स्वामी दयानन्द, अपने सनातन वैदिक धर्म से पतित होकर ईसाई मुसलमान हो जाने वालोंको,शास्त्र रीति से प्रायश्चित्त करके बिरादरी में शामिल करने का उपदेश देते थे, परन्तु पौराणिक पण्डित इस के विरुद्ध थे। यदि पौराणिक पंडितों का विजय हो जाता तो आज भारतवर्ष में ईसाइयों की संख्या चौगुनी दिखाई देती। परन्तु आज वह मत भेद भी रहता नहीं दिखाई देता। यही नहीं कि प्रसिद्ध संशोधक हिंदू अछूतों से घृणा हटाकर और पतितों को अपने साथ मिला कर इस विवाद को क्रिया से दूर कर रहे हैं, प्रत्युत काश्मीराधिपति से धार्मिक महाराजों ने भी इस का समर्थन शुरू कर दिया है।

(८) हां, एक विषय है जिसे मुसलमान ईसाइयों के साथ मिलकर हमारे सनातनी पंडितों ने आर्यसमाज पर आक्रमण करने का एक मात्र हथियार बनाया हुआ है। वह विवादास्पद विषय नियोग है। वेद की जो आदर्श वर्णाश्रमव्यवस्था है, उस पर चलते हुए आर्यों को तो नियोग की आवश्यकता ही नहीं हो सकती, और यदि उन को आवश्यकता पड़ भी जाय तो सन्तान के सर्वथा अभाव में विधवा नारी तथा रण्डवा पुरुष एक दूसरे का पाणिग्रहण करके सन्तान उत्पन्न हो सकते हैं। सन्तान उत्पन्न होने पर ऐसे आर्यदम्पति पितृऋण से मुक्त हो जायंगे इसी आशय को लेकर पुत्र का लक्षण, उणादिकोष पाद० ४। सू० १६५ में, इस प्रकार किया है—"*पुनाति पवित्रं करोतीति पुत्रः। आत्मजोवा।*" परन्तु पौराणिकों का उद्देश्य इस से पूर्ण नहीं हो सकता। वे मृतक श्राद्ध के मानने

वाले हैं । ज्ञात होता है कि महाभारत के समय में मुर्दों के श्राद्ध की अवैदिक प्रथा चल पड़ी थी । उस समय मनुस्मृति में इस आशय का श्लोक डाला जा चुका था कि ' पुं ' नामी नर्क से पिण्डदान द्वारा मुक्ति दिलाने से बेटे का नाम पुत्र रक्खा गया है—

पुन्नाम्नोनरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥

आर्यसमाजी न पुत नाम नर्क कोई स्थान विशेष मानतेहैं और नाहीं मुर्दे के लिए पिण्डदान के विधान को वेदोक्त समझते हैं । यदि एक व्यक्ति बिना सन्तान उत्पन्न किए मर गया है तो आर्यों के मतानुसार उस का प्रतिनिधि बनकर संतान उत्पन्न करने से वह पितृऋण से मुक्त नहीं हो सकता । इस लिए मनु ने जो नियोग की विशेष विधि लिखी है वह ऐसे मनुष्यों के कल्याण के लिए हैं जो वर्णाश्रम के उच्च आदर्श से गिरकर पौराणिक गढ़े में गिर चुके हों । इस प्रकार के नियोग के दृष्टान्त भी महाभारत के युद्ध से १००० वर्ष पहले के बीच वाले समय में ही मिलते हैं और स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि आर्यजाति की गिरावट महाभारत के युद्ध से एक सहस्र वर्ष पहिले शुरू हो गई थी । हमारा पहले यह निश्चय था कि नियोग की मन्वोक्त विधि उस समय के लिए विधान की गई है जबकि समाज की दशा उच्च हो, परन्तु वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध ने हमारे वे विचार बदल दिये जिन का विशेष वर्णन हम वैदिक विवाह के आदर्श पर विस्तृत पुस्तक लिखते हुए करेंगे । यहां लिखने का तात्पर्य केवल इतना है कि स्वामी दयानन्द ने पौराणिक आर्यों पर बड़ी दयादृष्टि करके (क्योंकि संन्यासी और विशेषतः समय के आचार्य समदर्शी होते हैं) उन के भले के लिये नियोग की उस विस्तृत विधि का उद्धरण मनुस्मृति से कर दिया ।

प्रश्न हो सकता है कि जब स्वामी दयानन्द पौराणिक अनृत कल्पनाओं के ...द्ध थे तो उन्होंने पौराणिकों के लिए नियोग के विशेष नियम क्यों लिखदिए हम पहले लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द आचार्य और इस काल के स्मृतिकार हैं, उन का कर्त्तव्य इतना ही नहीं था कि केवल वर्णाश्रम धर्म के आदर्श की व्याख्या करें प्रत्युत वर्णसङ्करों का धर्म निरूपण करना भी उन्हीं का कर्तव्य था । देखिए मनुस्मृति में भी मनु भगवान् से क्या प्रश्न ऋषियों ने किया है—

भगवन्सर्व वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तर प्रभवाणां च धर्म्मन्नो वक्तुमर्हसि ॥

यहां संक्षेप से ही काम लिया है परन्तु फिर भी पौराणिक सज्जन समझलेंगे कि नियोग विषय में उन का विवाद निरर्थक है ।

कहां तक लिखा जाय । ऋषि दयानन्द के उपदेशों ने भारतवर्ष के मतान्तरों तक को जब हिला दिया, जब मुसलमानों और ईसाइयों तक ने उस निर्भय घन की चोटें सहकर गंदले लोहे का ईस्पात बनाना शुरू कर दिया, जब न हिलने वाले जैनियों तक ने धर्म और देशोन्नति की पुकार मचानी आरम्भ करदी है, तब वैदिक मतावलम्बियों का उस ऋषि के चरण चिन्हों पर चलना तो आश्चर्य-जनक नहीं । ऋषि दयानन्द को बुरा भला कहते जाओ, आर्यों को कोसते जाओ परन्तु यदि उन के उपदेशानुसार उन्नति करते जाओ तो वे संतुष्ट हैं ।

सनातन धर्मियों की काया पलट का एक दृष्टांत और लीजिये । सन् १८७५ई० के पूना के एक व्याख्यान में स्वामी दयानन्दने कहा था-पुराने समय में "विधवा विवाह का रिवाज केवल शूद्रों में था और तीन उच्च वर्णों में नियोग का रिवाज था । विधवा विवाह का विरोध जो लोग करते हैं उनका खण्डन करना मेरा काम नहीं है, परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि ईश्वर के सामने पुरुष और स्त्री एक सम है, क्योंकि वह न्यायकारी है उसमें पक्षपात का लेश भी नहीं है। जब मर्दों को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाता है । पुराने आर्य लोक अति विचार शील और ज्ञानी होते थे । वर्तमान समय के लोग अनार्य बन गए हैं । मर्द चाहे कितनी भी औरतें क्यों न कर लेवे, उसका काम शास्त्र विरुद्ध नहीं समझा जाता । कैसा अनर्थ है ! कैसा अन्याय है ! कैसा अधर्म फैल रहा है !············धन्य तुम्हारा सामाजिक नियम ! आजकल की सामाजिक व्यवस्था देखकर *तो मानना पड़ता है कि इससे विधवा विवाह हर प्रकार से अच्छा है* । यह बात पुराने आर्यलोगों के रिवाज के विरुद्ध नहीं है············"

अब इसके साथ जम्मू की ताज़ी घटना का मुकाबिला कीजिए । एक आर्य जाति की विधवा का, उसका धर्म बचाने के लिए, जो पुनर्विवाह आर्य समाज

ने कर दिया तो सनातन धर्म के स्तम्भ श्री महाराजा बहादुर कश्मीर नरेश ने सुनकर सन्तोष प्रकट किया और कहा कि पतित को बचाना धर्म है। हमारा विशेषतः—

पौराणिक पण्डितों से निवेदन

है कि समय के प्रवाह को समझें और वैदिक धर्म के गौरव का ध्यान करें। यह समय स्वार्थ परायणता का नहीं है। इस समय उन विषयों पर अधिक बल देने का है जिनमें आर्य समाज और सनातन धर्म सभा ऐक्य मत हैं। ब्रह्मचर्याश्रम के अभाव से संसार का नाश होरहा है। उसका पुनर्जीवित करना केवल व्याख्यानों से असम्भव है। यदि सनातन धर्म सभा और आर्य समाज के विद्वान् अपनी शक्तियों को मिलाकर बल लगाएं, तो शीघ्र बेड़ा पार होसक्ता है; शेष जितने विषयों में आंशिक मत भेद है उनको प्रेम पूर्वक वाद द्वारा सुलझावें।

हमारी राय में जो संन्यासी, उदासी, निर्मले वैरागी आदि स्वतन्त्र विद्वान् साधु हैं, यदि वे संन्यासाश्रम की व्यवस्था को सुधार कर वैदिक धर्म की स्थापना का काम अपने हाथ में लें तो शीघ्र ही आर्य जाति मात्र का एक मत होसक्ता है जिससे कल्याण की संभावना है।

आदिम सत्यार्थ प्रकाश से चुने रत्न

हम लिख चुके हैं कि संशोधित सत्यार्थ प्रकाश एक दार्शनिक ग्रन्थ है। वह एक धर्म के आचार्य का पूरा मत दर्शाता और स्मृति ग्रन्थ है। उसकी शैली उसके उद्देशय के अनुसार ही चाहिए थी। आदिम सत्यार्थ प्रकाश एक निर्भय संशोधकके खुले विचारों का पुंज है। उसके बहुत से गौण वाक्य तथा विचार स्मृति के अन्दर नहीं आसक्ते थे। हमारी सम्मति में उस आदिम ग्रंथको फिरसे संशोधन करके छाप देना चाहिये। संशोधन से तात्पर्य हमारा यह है कि जो शब्द वा महावरे की अशुद्धियां राजा जयकृष्ण दास जी के निवेदन नं० ३ के अनुसार रह गई हैं उन्हें ठीक करके और जिस इबारत को सिद्ध किया जा चुका है कि स्वामी दयानन्द की नहीं है, उसे कोष्ठ में देकर, ग्रन्थ ज्यों का त्यों छाप दिया जाय। परन्तु जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक उसमें से कुछ रत्न, छापे आदि की अशुद्धियों को शोध कर, यहां पाठकों की भेंट धरे जाते हैं।

सतीत्व की रक्षा के साधन—और स्त्री लोगों के छ दूषण हैं उनको स्त्री लोग छोड़ दें और सब पुरुष छोड़ देवें।

पानन्दुर्जन संसर्गः पत्या च विरहोटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारी संदूषणानि षट्॥

यह मनु का श्लोक है। इसका यह अभिप्राय है कि (पानं)मद्य और भंगाादिक का नशा करना, (दुर्जन संसर्गः) दुष्ट पुरुषों का संग होना, (पत्या विरह) पति और स्त्री का वियोग अर्थात् स्त्री अन्य देश में और पुरुष अन्य देश में रहे (अटन) पति को छोड़के जहां तहां स्त्री भ्रमण करे जैसे कि नाना प्रकार के मन्दिर में तथा तीर्थों में स्नान के वास्ते और बहुतसे पाखण्डियों के दर्शन के वास्ते स्त्री का भ्रमण करना, (स्वप्नोन्य गेहवासश्च) अत्यन्त निद्रा अन्य के घर में स्त्री का सोना अन्य के घर में पति के विना वास करे और अन्य पुरुषों के संग का होना, ये छः अत्यन्त दूषण स्त्रियों के भ्रष्ट होने के कारण हैं, इन छः कर्मों ही से स्त्री अवश्य भ्रष्ट हो जायगी इस में कुछ सन्देह नहीं।

और पुरुषों के वास्ते भी ऐसे बहुत दूषण हैं—

मात्रा स्वस्रादुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वान्समपि कर्षति॥

माता और [स्वसा] भगिनी [दुहिता] कन्या, इनके साथ भी एकान्त में निवास कभी न करे और अत्यन्त संभाषण भी न करे और नेत्र से उनका स्वरूप और चेष्टा न देखे, जो कुछ उनसे कहना वा सुनना होय सो नीचे दृष्टि करके कहे वा सुने। इससे क्या आया कि जितनी व्यभिचारिणी स्त्री वा वेश्या और जितने वेश्यागामी और पर स्त्री गामी पुरुष हैं उनमें प्रीति वा संभाषण ... उनका संग कभी न करे। इस प्रकार के दूषणों से ही पुरुष भ्रष्ट हो जाते है क्योंकि यह जो इन्द्रिय ग्राम अर्थात् मन और इन्द्रियां हैं ये बड़े प्रबल हैं। जो कोई विद्वान् अथवा जितेन्द्रिय वा योगी हैं वे भी इस प्रकार के संगों से भ्रष्ट हो जाते हैं। तो साधारण जो गृहस्थ वा मूर्ख हैं वे तो अवश्य ही भ्रष्ट हो जावेंगे। इस वास्ते स्त्री वा पुरुष सदा इन दुष्ट संगों से बचे रहें।

आधुनिक पर्दा—और जो स्त्रियों को अत्यन्त बन्धन में रखते हैं, यह भी बड़ा भ्रष्ट काम है, क्योंकि स्त्रियों को बड़ा दुःख होता है। श्रेष्ठ पुरुषों का तो दर्शन भी नहीं होता और नीच पुरुषों से भ्रष्ट हो जाती हैं। देखना चाहिये कि परमेश्वर ने तो सब जीवों को स्वतन्त्र रचा है और उनको पुरुष लोग बिना अपराध से परतन्त्र अर्थात् बंधन में रखते हैं, वे बड़ा पाप करते हैं। सो इस बात को सज्जन लोग कभी न करें। यह बात मुसलमानों के समय से प्रवृत्त हुई है, आगे न थी। कुन्ती, गान्धारी और द्रौपद्यादिक स्त्रियां राजसभा में (जहां कि राजा लोगों की सभा होती थी) वार्ता संभाषण करती थीं, अपने पति की पंखा और जलादिकों से सेवा भी करतीथीं। और गार्गी मैत्रेयी इत्यादिक ऋषि लोगों की स्त्रिया भी सभा में शास्त्रार्थ करती थीं। यह बात महाभारत और बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखी हैं, इसको अवश्य करना चाहिये। मुसलमान लोगों का जब राज्य हुआ था तब जिस किसी की कन्या वा स्त्री को चाहते पकड़ लेने, और भ्रष्ट कर देते थे। उसी दिन से श्रेष्ठ आर्यवर्तदेशवासी लोग स्त्रियों को घर में रखने लगे, और स्त्री लोग भी मुख के ऊपर वस्त्र रखने लगीं—सो इस बात को छोड़ देना ही चाहिए क्योंकि इस व्यवहार में सिवाय दुःख सुख कुछ नहीं। जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियां वस्त्र धारण करतीं हैं वैसा ही पहिले था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता सब दिन जैसे पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं वैसे स्त्री लोगों के भी शुद्ध रहते हैं, इस से इस प्रकार का वस्त्र धारण करना उचित हैं। (पृ० १५२—१५३)

धनाढ्यों के विद्या प्राप्ति से लाभ—जो राजा और जितने धनाढ्य लोग हैं उन को तो अवश्य सब शास्त्रों को पढ़ना चाहिए, क्योंकि उन के पढ़े बिना कोई ...र से भी विद्या का प्रचार और धर्म की व्यवस्था और आर्यवर्त्त देश की उन्नति ...ं न होगी उनकी बहुतसी हानि भी होगी, क्योंकि उनके अधिकार में राज्य धन और बहुत से पुरुष रहते हैं। जब वे विद्यावान् बुद्धिमान, जितेन्द्रिय और धर्मात्मा होंगे तब उनके राज्य में धर्म और विद्या का प्रचार होगा, उनका धन अनर्थ में कभी न जायगा और उनके संगी सब श्रेष्ठ धर्मात्मा होंगे। इससे सब देशस्थों का उपकार होगा। केवल आर्यावर्तवासियों को नहीं किन्तु सब देशस्थ मनुष्यों को ऐसा करना उचित है कि पक्षपात का छोड़ना और सत्य का ग्रहण करना।

और जितने मत हैं वे सब मूर्खों ही के कल्पित हैं और *बुद्धिमानों का एक ही मत अर्थात् सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना है* । इससे क्या आया कि जो लाभ विद्या के प्रचार से होता है ऐसा लाभ कोई अन्य प्रकार से नहीं होता । (पृ० ६० ६१)

व्यायाम की शिक्षा—जब सोलह वर्षका पुरुष होय तब से लेके जब तक वृद्धावस्था न आवे तब तक व्यायाम करे । बहुत न करे किन्तु ४० बैठक करे और ३० वा ४० दण्ड करे । कुछ भीत खम्भे वा पुरुष से बल करे, फिर लोट करे । उस को भोजन से एक घन्टा पहिले करे, सब अभ्यास जब कर चुके उस से एक घन्टा पीछे भोजन करे । परन्तु दूध जो पीना होय तो अभ्यास से पीछे शीघ्र ही पीवे । उस से शरीर में रोग न होगा, जो कुछ खाया वा पिया सो सब परिपक्व हो जायगा, सब धातुओं की वृद्धि होगी तथा वीर्य की भी अत्यन्त वृद्धि होती है, शरीर दृढ़ हो जाता है और हड्डियां बड़ी पुष्ट हो जाती हैं । जाठराग्नि शुद्ध प्रदीप्त रहता है और सन्धि से सन्धि हाड़ों की मिली रहती है अर्थात सब अंग सुन्दर रहते हैं । परन्तु अधिक न करना । अधिक के करने से उतने गुण न होंगे क्योंकि सब धातु शुष्क और रूक्ष होजाते हैं उससे बुद्धिभी वैसी रूक्ष होजाती है और क्रोधादिक भी बढ़ते हैं,इससे अधिक न करना चाहिए ।यह बात सुश्रुत में लिखी है, जो देखना चाहे सो देखलेवे । उन बालकों के हृदय में वीर्य के रक्षण से जितने गुण लिखे हैं वे सब माता पिता और आचार्यादिक दृष्टांत दे देकर निश्चय करादेवें—जैसे कि वीर्य्य की रक्षा में सुख लाभ होता है उसका हज़ारवां अंश भी विषय भोग में, वीर्य का नाश करने से, नहीं होता······ जो वीर्य की रक्षा करेगा उसको बहुत सा सुख होगा··········इससे युक्ति पूर्वक विद्या और बल से ही वीर्य की रक्षा करनी चाहिये अन्यथा वीर्य्य की रक्षा कभी न होगी ।जब वीर्य्य की रक्षा न होगी तब विद्या भी न होगी, जब विद्या न हो तब कुछ भी सुख न होगा, उसका मनुष्य शरीर धारण करना ही पशुवत् होजायगा । (पृ० ९०–९१)

आप्तका लक्षण—यह प्रश्न बड़ा मनोरंजक है । ऋषि दयानन्द से यह प्रश्न प्रयाग के कुछ विद्यार्थियों ने किया था । जीवनचरित्र के पृष्ठ २२२ पर लिखा है—" किसी कॉलिज के तालिब-ए-इल्म ने 'म्लेच्छ' लफ्ज़ के मानी पूछे

स्वामी जी ने जवाब दिया कि जिनका उच्चारण शुद्ध नहीं, वह म्लेच्छ है। इस बात को चन्द आदमियों ने यह कह कर तसलीम किया कि मिस्टर बाप (Bopp) ने भी यही मानी अपनी कम्पैरेटिव ग्रामर में किये हैं।''

ऊपर के उद्धरण के साथ आदिम सत्यार्थप्रकाश का लेख मिलाइए—आप्त कोई देश विशेष में होता है अथवा सब देशों में होता है। इसका यह उत्तर है कि '' ऋष्यार्य म्लेच्छानां समानो लक्षणम्। '' ऋषि नाम यथार्थ मन्त्रद्रष्टा यथार्थ पदार्थों के जानने वाले। उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल पूर्व में समुद्र और पश्चिम में समुद्र इन चारों के अवधि पर्यन्त देश में रहने वाले मनुष्यों का नाम म्लेच्छ है। म्लेच्छ नाम निन्दित नहीं किन्तु 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे।' इस धातु से म्लेच्छ शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ यह है कि जिन पुरुषों के उच्चारण में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता उनका नाम म्लेच्छ है। सब देशों में और सब मनुष्यों में आप्त होने का सम्भव है, असम्भव कभी नहीं अर्थात् ऋषि, आर्य और म्लेच्छ इन में आप्त अवश्य होते हैं क्योंकि जिन किन्हीं मनुष्यों में उक्त प्रकार का लक्षण वाला मनुष्य होगा उसी का नाम आप्त है, यह नियम नहीं है कि इस देश में हो और अन्य देश में न हो। (पृ० ६७)

विवाह के नियम तथा कर्तव्य-''वर कन्या दोनों की परस्पर प्रसन्नता जब होय फिर माता, पिता वा बन्धु विवाह करदेवें अथवा आपही दोनों परस्पर विवाह करलेवें। पशुवत विवाह का व्यवहार करना उचित नहीं, जैसे कि गाय वा छेरी (बकरी) को पकड़ के दूसरे के हाथ में दे देते हैं, वे लेके चले जाते हैं। इस प्रकार का व्यवहार मनुष्यों को कभी न करना चाहिए।'' (पृ० १००) '' दुष्ट पुरुष के साथ श्रेष्ठ कन्या अथवा दुष्ट कन्या के साथ श्रेष्ठ पुरुष का विवाह कभी न करना चाहिये किन्तु तुल्य श्रेष्ठ गुण वालों का परस्पर विवाह होना चाहिये। जो दुष्ट पुरुष के साथ श्रेष्ठ कन्या और श्रेष्ठ पुरुष के साथ दुष्ट कन्या का विवाह होगा तो परस्पर दोनों को दुःख ही होगा; इससे दोनों का परस्पर विचार करके वर और कन्या का विवाह करें। क्योंकि श्रेष्ठ विवाह से उन्हीं को सुख और दुष्ट विवाह से उन्हीं को दुःख होगा इस में माता, पितादिकों का कुछ भी अधिकार नहीं.........विवाह में बहुत धन का नाश करना अनुचित ही है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इससे बहुत राज्य

नष्ट हो गये, और वैश्य लोगों के भी विवाह में धन के व्यय से दिवाला निकल जाता है। सब लोगों को मिथ्या धन का व्यय करना अनुचित है, इससे धनका नाश विवाह में कभी न करना चाहिये।

एक ही स्त्री से विवाह करना उचित है। बहुत स्त्री के साथ विवाह करना पुरुषों को उचित नहीं। स्त्री को भी बहुत विवाह करना उचित नहीं। *क्योंकि विवाह संतान के लिए है,* सो एक स्त्री एक पुरुष को बहुत है। देखना चाहिए कि एक व्यभिचारिणी स्त्री अथवा वेश्या बहुत पुरुषों को वीर्य्य के नाश से निर्बल कर देती है। इससे एक पुरुष के लिये एक स्त्री क्या थोड़ी है? अर्थात् बहुत है।

एक स्त्री के साथ भी सर्वथा वीर्य का नाश करना उचित नहीं। क्योंकि वीर्य के नाश से पूर्वोक्त सब दोष हो जायंगे, इससे जो अपनी विवाहिता हो उसके साथ भी वीर्य का नाश बहुत न करना चाहिए, *केवल संतान के लिए वीर्य्य का दान करना चाहिए अन्यथा नहीं।* और स्त्री भी केवल सन्तान ही की इच्छा करे, अधिक नहीं।" (पृ० ११०-१११)

"आजकल आर्यवर्त में कई एक राजा और धनाढ्य विवाहिता स्त्री को तो कैद की न्यांई बन्द करके रखते हैं और आप वेश्या और पर स्त्री के पास गमन करते हैं, उसमें धन और शरीर का नाश करते हैं, और उनकी विवाहिता स्त्रियां रोती और बड़ी दुखित रहती हैं। उन मूर्खों को कुछ भी लज्जा नहीं आती कि यह स्त्री तो मेरे साथ विवाहित है, इसको छोड़ कर मैं परस्त्री गमन करता हूं सो यह मैं न करूं। ऐसा विचार उन पुरुषों के मन में कभी नहीं आता। अन्य स्त्री और वेश्या गमन जो करते हैं सोतो बुरा ही काम करते हैं, परन्तु बालकों से भी बुरा काम करते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है कि स्त्री का काम पुरुषों से लेते हैं, इनकी तो अत्यन्त भ्रष्ट बुद्धि सज्जनों को जाननी चाहिए।" (पृ०११३)

"जो लौंडेबाज़ी करते हैं वे तो सुवर वा कौव्वे की नांई हैं क्योंकि जैसे सुवर वा कव्वे विष्टा से बड़ी प्रीति रखते हैं और अरुचि कभी नहीं करते, वैसे वे पुरुष भी विष्टा जिस मार्ग से निकलती है उस मार्ग से बड़ी प्रीति रखते हैं, इससे इस प्रकार के जो मनुष्य हैं वे मूर्ख से बढ़ कर हैं। वीर्य, जो सब बीजों से उत्तम बीज है उसको व्यर्थ नष्ट करते हैं और पाप ही कमाते हैं। (पृ.१५१)

" सदा स्त्री प्रसन्न होके गृह कार्य चतुरता से करे। पाक का अच्छी प्रकार से संस्कार करे जिससे कि औषधवत् अन्न होय। और गृह में जो पात्र, लवणादिक पदार्थ और अन्न हैं उन्हें सदा शुद्ध रक्खे, घरके सब काम और स्थान भी सब दिन शुद्ध रक्खे; जाला, धूली, मलिनता घर में कुछ भी न रहे घर में लेपन, प्रक्षालन और मार्जन करे, जिससे कि घर सब दिन शुद्ध बना रहे। घर के दास दासी नौकर इत्यादिकों पर सब दिन शिक्षा की दृष्टि रक्खे। जो पाक करने वाला पुरुष वा स्त्री हो उसके पास पाक करते समय बैठकरके शिक्षा करे। जैसी पाक की रीति वैद्यक शास्त्र में लिखी है उस रीति से पाक करे और करावे। नए घर को बनाना वा सुधारना हो तो उसको स्त्री ही, शिल्प शास्त्र की रीति से, करावे। अर्थात् जितना घर का जो कार्य है सो स्त्री ही के आधीन रहे। जो नित्य नित्य वा मास मास में खर्च हो वह पति को समझा देवे। जितना बाहर का कार्य हो वह सब पुरुष के आधीन रहे।..........घर इस प्रकार का बनावे कि जिस में सब ऋतु में सुख होय। स्थान का वायु शुद्ध होना चाहिये। चारों ओर पुष्पों की सुगन्धियुक्त बाटिका लगावे जिससे कि चित्त प्रसन्न रहे। व्यर्थ धन का नाश कभी न करे; धर्म ही से धनका संग्रह करे, अधर्म से कभी नहीं। अच्छे से अच्छा भोजन करे।" (पृ० ११४)

आज कल के धनाढ्यों के खुशामदी—"आज कल इन राजा और धनाढ्य लोगों के पास बहुत से धूर्त खुशामदी लोग रहते हैं; वे सदा उन (धनाढ्यों)को प्रसन्न करने के लिये मिथ्याही कहते रहते हैं--आपके तुल्य कोई राजा वा अमीर न हुआ, न है और न होगा,। और जो राजा मध्यदिवस के समय में कहे कि इस समय में आधीरात है तब वे शुश्रूषु लोग कहते हैं कि 'हां महाराजाधिराज हां देखिये चांद निकला और चांदनी भी अच्छी खिल रही है'। फिर वे कहते हैं कि महाराज के तुल्य कोई बुद्धिमान् न हुआ, न है और न होगा। तबतो वे मूर्ख राजा और धनाढ्य प्रसन्नता से फूल के ढोल होजाते हैं। फिर वे (खुशामदी) ऐसी बात कहते हैं कि महाराज! आपके प्रताप के सामने किसी का प्रताप नहीं चलता है। आपका प्रताप कैसा है जैसा कि सूर्य और चांद। ऐसा कह कह कर बहुत धन हरण कर लेते हैं। वे राजा और धनाढ्य लोग, उन्हीं (खुशामदियों) से प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि आप जैसा मूर्ख वा पंडित होता है उसको वैसे ही पुरुषों

से प्रसन्नता होती है। कभी उनको सत्पुरुषों का संग नहीं होता । और कभी सत्पुरुषों का संग होजाय तो भी वे खुशामदी धूर्त्त, राजा और धनाढ्य लोगों की मूर्खता के कारण, बात के सुनने में उन्हें प्रवृत्त नहीं होने देते; क्योंकि जैसा जो पुरुष होता है, उसको वैसा ही संग मिलता है। ऐसे व्यवहार के होने से आर्य्यवर्त्त देश के राज्य और धन बहुत नष्ट होगए, और जो कुछ बच रहा है उसकी रक्षा भी ऐसी अवस्था में होनी दुष्कर है। जब तक कि सत्यव्यवहार, सत्य शास्त्र और सत्संगों को न करेंगे तब तक उनका नाश ही होता जायगा, बढ़ती न होगी।

खुशामदी लोगों के विषय में यह दृष्टान्त है—कोई राजा था। उसके पास पंडित, बैरागी और नौकर, खुशामदी लोग बहुत से रहते थे। किसी दिन राजा की रसोई में बैंगन का शाक, मसाले डालने से, बहुत अच्छा बना। फिर जब राजा भोजन करने को बैठा तो स्वादु होने के कारण, उस शाक को अधिक खाया। राजा भोजन करके सभा में आया जहां कि वे खुशामदी लोग बैठे थे। उनसे राजाने कहाकि बैंगन का शाक बहुत अच्छा होता है। तब वे खुशामदी लोग सुनकर बोले कि वाहवा! महाराज की नांई कोई बुद्धिमान् नहीं है। महाराज आप देखिए कि जब बैंगन उत्तम है तब तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट रख दिया है तथा मुकुटके चारों ओर कलगियां रखदी हैं। और बैंगनका वर्ण, श्रीकृष्ण के शरीर जैसा घनश्याम है, वैसा ही बनाया है। और उसका गूदा मक्खनकी नाईं परमेश्वर ने बनाया है। बैंगन का शाक उत्तम क्यों न बने। फिर जब उस शाकने बादी की, रात भर नींद न आई और आठ दस बार शौच भी गया जिससे राजा बड़ा क्लेशित हुआ। प्रातःकाल जब हुआ तब भीतर से राजा बाहर आया। वे खुशामदी लोग भी आए। जब राजा का मुख बिगड़ा देखा तब उन खुशामदी लोगों ने उससे भी अधिक मुख बिगाड़ लिया और सब राजा के पास जाके बैठे। राजा बोले कि बेंगन का शाक तो अच्छा होता है, परन्तु बादी करता है। तब वे (खुशामदी) बोले कि वाहवा! महाराज के तुल्य कोई बुद्धिमान् नहीं है। एक ही दिन में बेंगन की परीक्षा करली। देखिए महाराज! जब बेंगन भ्रष्ट है तब तो उसके ऊपर परमेश्वर ने खूंटी गाड़दी है, उस खूंटी के चारों ओर कांटे लगा दिए हैं उस दुष्ट का वर्ण भी कोयले के तुल्य रक्खा है, तथा परमेश्वरने उसका गूदा भी श्वेत कुष्ठ की नाईं बना दिया है। तब उन

खुशामदियों से राजा ने पूछा कि शाम को तुम लोगों ने मुकुट, कलगी, घनश्याम और मक्खन के तुल्य बेंगन के अवयव वर्णन किए, उसी बेंगन के अवयवों को खूंटी, कांटे कोइला और कुष्ट के नांई बनाया। हम किसको सत्य मानें, कल वाली को वा आज की कही को ? खुशामदी बोले, वाहवा ! महाराज किस प्रकार के विवेकी हैं कि विरोध को शीघ्र ही जान लिया। सुनिए माहाराज ! जिस बात से आप प्रसन्न होंगे, उसी बात को हम लोग कहेंगे, क्योंकि हम लोग तो आपके नौकर हैं। सो आप जो झूठी वा सच्ची बात कहेंगे हम लोग उसी बात को पुष्ट करेंगे। हम लोग उस..........बेंगन के नौकर नहीं हैं कि बेंगन की स्तुति करें। हमको बेंगन से क्या लेना है, हमको तो आपकी प्रसन्नता से प्रसन्नता है। आप असत्य कहो तो भी हमको सत्य है।

वे खुशामदी लोग ऐसा प्रयत्न करते हैं कि राजा सारा दिन नशे में चूर रहे और मूर्ख ही बना रहे। फिर जब वे लोग किसी अन्य राजा वा धनाढ्य के पास जाते हैं तब उसी की खुशामद करते हैं और जिसके पास पहले रहते थे उसकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार के खुशामदी मनुष्यों ने राजाओं की और धनाढ्यों की मति भ्रष्ट कर दी है। जो बुद्धिमान् राजा और धनाढ्य लोग हैं वे इस प्रकार के मनुष्यों को पास भी बैठने नहीं देते, न आप उनके पास बैठते तथा न उनकी बात सुनते हैं। और जो कोई मिथ्या बात उनके पास कहता है उसको उसी समय उठा देते हैं, और सदा बुद्धिमान्, सत्यवादी, विद्वान् पुरुष का संग करते हैं कि जो मुख के ऊपर सत्य सत्य कहे, मिथ्या कभी न कहे। उन राजाओं और धनाढ्यों की सदा बढ़ती होती, और उन्हें ऐश्वर्य और सुख प्राप्त होता है। इससे सज्जनों को श्रेष्ठ ही पुरुषों का संग करना चाहिये, दुष्टों का कभी नहीं।" (पृ० ११७-१२०)

निन्दा स्तुति "यथावत् सत्य भाषण करना स्तुति है और अन्यथा अर्थात् मिथ्या भाषण करना निन्दा है। इसलिये सज्जन लोगों को सदा स्तुति ही करनी चाहिए, निन्दा कभी नहीं। मूर्ख लोग सत्य बात कहने और सत्याचरण के करने में यदि निन्दा करें तो भी बुद्धिमान् लोगों को दुःख वा भय न मानना चाहिए, किन्तु प्रसन्नता ही रखनी चाहिऐ, क्योंकि उन (मूर्खों) की बुद्धि भ्रष्ट है, इस लिए भ्रष्ट बात को सदा कहते हैं। *जैसे वे भ्रष्ट लोग भ्रष्टता को नहीं छोड़ते हैं*

तो श्रेष्ठ लोग श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें ? किन्तु भ्रष्टता, भ्रष्ट लोगों को भी अवश्य छोड़नी चाहिए। यदि सब भ्रष्ट लोग अत्यन्त विरोध भी करें, यहां तक कि मरण की भी अवस्था आजाय, तो भी सत्य वचन और सत्याचरण सज्जनों को न छोड़ना चाहिये, क्योंकि यही मनुष्यों में मनुष्यत्त्व है। इसको छोड़ने से मनुष्यत्त्व तो नष्ट हो ही जाता है किन्तु पशुत्त्व भी आजाता है। *आजीविका भी सत्य से करनी चाहिए, असत्य से कभी नहीं।* '' (पृ० १२१)

कुपात्र को दान न दो—कितने गृहस्थ लोग सदावर्त और क्षेत्र करते हैं, वे अनुचित ही करते हैं। क्योंकि बड़े धूर्त, गांजा और भांग पीने वाले तथा चोर, डाकू और लुच्चे सदावर्तों से अन्न लेते और क्षेत्रों से भोजन कर लेते हैं फिर कुकर्म ही करते रहते और हरामी हो जाते हैं। बहुत से लोग अपना काम-काज छोड़ सदावर्तों और क्षेत्रों के ऊपर निर्भर करके घर के सब काम और नौकरी चाकरी छोड़ के साधु वा भिखारी बन जाते हैं, फिर संत का अन्न खाते और सोए पड़े रहते हैं, अथवा कुकर्म करते रहते हैं। इससे संसार की बड़ी हानि होती है। सो जो कोई सदावर्त, क्षेत्र करता है उस में सज्जन वा सत्पुरुष कोई नहीं जाता। इस से उन गृहस्थों का पुण्य कुछ नहीं होता, किन्तु पाप ही होता है। *इस से गृहस्थलोग अन्नादिक दान करना चाहें तो पाठशाला रच लेवें। उसी में सब दान करें अथवा जो श्रेष्ठ धर्मात्मा गृहस्थ और विरक्त होवें उनको अन्नादिक* देवें, और यज्ञ करें तब उनको बड़ा पुण्य होय, पाप कभी न होवे।''(पृ०१२५)

गृहस्थ का समय विभाग--"एक पहर रात जब रहे तब सब मनुष्य उठें। उठके प्रथम धर्म का विचार करें कि अमुक अमुक धर्म की बात हमको करनी होगी तथा यह यह अर्थ (व्यवहार) अवश्य सिद्ध करना होगा ; उस धर्म और अर्थ के आचरण में विचार करें कि परिश्रम थोड़ा हो और कार्य सिद्ध होजाय। और जो शरीर में रोग क्लेश हों उनके औषध, पथ्य और निदान पर भी विचार करके उनके निवारण का उपाय सोचें। फिर (वेदतत्त्वार्थ) परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करें, और उठ कर मलमूत्रादिक त्याग करें। हस्तपाद का प्रक्षालन करें। फिर जो *वृक्ष दूधवाले* हों उन से दन्तधावन करें अथवा खैर के चूर्ण से युक्त करके दन्त धावन से दांतों को मलें, और स्नान करें। सूर्योदय से पहले एक वा दो कोस भ्रमण करें। एकान्त में जाकर, जैसा कि लिखा है, सन्ध्योपासन वैसा

करें। सूर्योदय के पीछे घर में आके अग्निहोत्र करें, जब तक पहर दिन चढ़े। फिर दूसरे प्रहर के प्रारम्भ में तर्प्पण, बलिवैश्वदेव और अतिथि-सेवा करके भोजन करें। फिर जो जिसका व्यवहार है उस व्यवहार को यथावत् करें। ग्रीष्मऋतु को छोड़ के दिवस में न सोवें, क्योंकि दिन को सोने से रोग होते हैं और ग्रीष्म में अर्थात् वैशाख और ज्येष्ठ में थोड़ा सोने से रोग नहीं होता निद्रा से शरीर में उष्णता होती है, सो ग्रीष्म में उष्णता ही अधिक होती है। जल भी अधिक पीने में आता है। फिर जब मनुष्य सोता है तब सब द्वारों (अर्थात् लोम) से जल भीतर से बाहर निकलता है। उससे सब मार्ग शुद्ध हो जाते हैं। इसलिए ग्रीष्मऋतु में सोने से रोग नहीं होता है, अन्य ऋतु में सोने से होता है। और जो कुछ आवश्यक कार्य हो तो ग्रीष्मऋतु में भी न सोवें तो बहुत अच्छा है।

(पृ० १२७)

इस स्थान में, उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह जी को जो दिनचर्य्या ऋषि दयानन्द ने बतलाई थी, वह जीवनचरित्र से उद्धृत करना उचित है—"११ बजे से १२ बजे तक, यदि इच्छा हो तो, सोना चाहिये। दर्बार (उदयपुराधीश) ने पूछा कि 'यदि इच्छा हो' का बन्धन क्यों बतलाया। स्वामी जी ने कहा कि गर्मियों में (इच्छा) होगी और सर्दियों में नहीं। (जीवन चरित्र पृ०५६२)।

" फिर जब चार वा पांच घड़ी दिन रहे तब सब कार्यों को छोड़ के भोजन के लिए जावे। पहले शौचस्वानादिक क्रिया करे, तदनन्तर बलिवैश्वदेव फिर अतिथि सेवा करके भोजन करें। भोजन करके फिर भी सन्ध्योपासन के वास्ते एकान्त में चले जायं। सन्ध्योपासन करके फिर अग्निहोत्र अपने स्थान में आके करें। जब जब अग्निहोत्र करें तब तब स्त्री के साथ ही करें। फिर जो जिसका व्यवहार हो वह उसको करे फिर दो प्रहर अथवा डेढ़ पहर तक सोवे। फिर उठकर नित्य वैसे ही क्रिया करे।" (पृ० १२७, १२८)

संन्यास के कुछ नियम—संन्यास विषयक मनुस्मृति के कुछ विशेष श्लोक तथा कुछ विशेष बातें आदिमसत्यार्थप्रकाश में विस्तार पूर्वक दिए हैं। उनको यहां उद्धृत करना लाभदायक है।

" वित्तेषणा अर्थात् धन की इच्छा और धन की प्राप्ति में प्रयत्न और लोभ अर्थात् यह इच्छा कि मुझको धन अधिक मिले, और जितने धनाढ्य हैं उनसे

धन प्राप्ति के वास्ते बहुत प्रीति करना और द्रव्य को बड़ा पदार्थ जान के संचय करना और दरिद्रों के पास धन नहीं है इसलिये उनसे प्रीति न करना, और धनाढ्यों की स्तुति करना—इन सब बातों का जो छोड़ना है उसका नाम वित्तैषणा का त्याग है।" (पृ० १५९)

"अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्। अनिष्ट्वाचैव यज्ञैश्चमोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ मनु ॥ द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, वेदों को न पढ़ के, यथावत् धर्मों से पुत्रों का उत्पादन न करे, यज्ञादि कभी न करे, फिर जो मोक्ष अर्थात् संन्यास की इच्छा करे; संन्यास तो उसका न होगा *किंतु संसार ही में गिर पड़ेगा।*" (पृ० १६१)

मनु के आदेश से विरुद्ध चलकर ही आधुनिक साधु लोग सहस्रों युवकों तथा बालकों तक को पाप में फँसाते हैं। इसलिये वैदिक संन्यासियों को यही उपदेश देना चाहिये कि आश्रम से आश्रम में होते हुए और सब आश्रमों के कर्तव्य यथावत् पालन करते हुए ही संन्यास धारण करने की इच्छा होनी चाहिए।

"संसार के जनों से कुछ प्रयोजन न होने के कारण सबके मुख पर सत्य ही कहेगा, अपने सामने जैसा राजा वैसाही प्रजा को समझेगा, इस वास्ते *जिस पुरुष को विद्या, ज्ञान वैराग्य, पूर्ण जितेन्द्रियता हो और विषय भोग की इच्छा न हो उसी को संन्यास लेना उचित है, अन्य को नहीं।* आजकल जैसे आर्य्यावर्त्तदेश में बहुत से सम्प्रदायी लोग हो गए हैं, वे केवल धूर्त्तता से पराया धन हरण करलेते हैं और पराई स्त्री को भ्रष्ट कर देते हैं और मूर्खता तथा पक्षपात के होने से मिथ्या उपदेश करते मनुष्यों की बुद्धि नष्ट कर देते हैं और अधर्म में प्रवृत्ति करा देते हैं इससे इनका तो बन्द होना ही उचित है, क्योंकि इनके होने से संसार का बहुत अनुपकार होता है।" (पृ० १६४)

"सब विद्या से पूर्ण जो विद्वान् संन्यासी हो सो तो उपदेश न करे और जितने पाखण्डी मूर्ख लोग हैं वे उपदेश करें—तभी तो संसार का सत्यानाश होता है। जितने मूर्ख पाखण्डी हैं उनका तो ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि वे उपदेश ही न करने पावें; और जितने विद्वान् संन्यासी लोग हैं वे सदा उपदेश किया करें, अन्य कोई नहीं, अन्यथा मूर्ख पाखंडियों के उपदेश से देशका नाश होता है जैसा कि आज कल आर्यावर्त देश की अवस्था हो गई है।.........

विधूमे सन्न मुसले व्यङ्गारे भुक्त वज्जने। वृत्ते शराव संपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ।। जब गांव में धुआं न दीख पड़े, मूसल वा चक्की का शब्द न सुन पड़े किसी के घर में अङ्गार न दीख पड़े, सब गृहस्थ लोग भोजन कर चुकें और भोजन करके पत्तल और सकोरे बाहर फेंक देवें, उस समय संन्यासी गृहस्थ लोगों के घरों में भिक्षा के वास्ते नित्य जायं। और जो ऐसा कहते हैं कि हम पहले ही भिक्षा करेंगे, यह उनका पाखंड ही जानना, क्योंकि गृहस्थ लोगों को पीड़ा होती है। और जो विरक्त हो कर बैरागी आदिक अपने हाथ से भोजन बनाके करते हैं, वे बड़े पाखण्डी हैं।" (पृ० १६५)

"ब्रह्मचारी गृहस्थश्चवानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ।। ब्रह्मचारी; गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चारों पृथक् २ गृहस्थाश्रम से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि गृहस्थ न होय तो मनुष्य की उत्पत्ति ही न होय। फिर ब्रह्मचर्यादिक आश्रम कभी न होंगे। इससे सब आश्रमों की उत्पत्ति तथा अन्न वस्त्र स्थान और धनादिक दोनों से पालन करने वाला गृहस्थाश्रम ही है। इन दो बातों में गृहस्थ ही मुख्य है। विद्याग्रहण में ब्रह्मचारी, तप में वानप्रस्थ और विचार योग तथा ज्ञान में संन्यासी श्रेष्ठ हैं। सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेतेयथा शास्त्रं निषेविता। यथोक्त कारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ।। सब आश्रमी यथावत् शास्त्रोक्त क्रम जो धर्माचरण है उसपर चलने वाले पुरुषों का उन आश्रमों के जितने श्रेष्ठ व्यवहार हैं उनसे सब आश्रमी मोक्ष पासकते हैं। परन्तु बाहर देखने मात्र भेद रहेगा उनका भीतर व्यवहार संन्यासव्रत एकही होगा………………………………………दश लक्षणकं धर्म मनुतिष्ठन् समाहितः। वेदांत विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणोद्विजः ।। दश लक्षण और एक योग शास्त्र की रीति से एवं ग्यारह लक्षण जिस धर्म के कह दिये, उस धर्म का अनुष्ठान यथावत् करें। समाहित चित्त हो के वेदान्त शास्त्र को विधिवत् सुनके अनृण (अर्थात् तीनों ऋणों से मुक्त) जो (द्विज) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो ये तीन विद्वान् होके यथाक्रम से संन्यास ग्रहण करें ।। संन्यस्यसर्व कर्माणि कर्म दोषानपानुदन्। नियतोवेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखंवसेत् ।। बाह्य जितने कर्म उनका त्याग करे और आभ्यन्तर योगाभ्यासादिक जितने कर्म हैं उन को यथावत करे! इससे सब कर्म दोष अर्थात् अन्तःकरण की मलिनता, राग द्वेष

इत्यादिकों को छोड़दे , निश्चित होके वेद का अभ्यास सदा करे। और अपने पुत्रों से अन्न वस्त्र, शरीर निर्वाह मात्र, ले लेवे। नगर के समीप एकान्त में जाके वास करे। नित्य घर से भोजन आच्छादन करे और अपनी मुक्ति के साधन में सदा तत्पर रहे।" (पृ० १७२)

राजा "शारीरक सूत्र की रीति से ज्ञान दण्ड की व्यवस्था करे, उसमें आप राजा चले और प्रजा को चलावे। और जितने पूर्वोक्त शैव वैष्णव शाक्तादिक पाखण्ड लिखे हैं उनको कभी प्रचलित न होने दे; क्योंकि ये सब पाखण्ड हैं तीनों काण्ड में नहीं हैं, उन से विरुद्ध ही हैं। इन पाखण्डों के चलने में राजा और राज्य नष्ट हो जाते हैं। सो अत्यन्त प्रयत्नों से इन पाखण्डों का अंकुर भी न रहने देवे। जैसे कि आजकल आर्यावर्त देश में मण्डली की मण्डली फिरती हैं, लाखों पुरुषों ने विरक्तता का स्वांग धारण किया है; यह मिथ्या जाल ही है। इन लाखों पुरुषों में कोई एक पुरुष विरक्त कहलाने के योग्य है, शेष सब पाखण्ड में रम रहे हैं इनकी राजा यथावत परीक्षा करे। सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सब विद्याओं में निपुण और शान्त्यादिक गुण जिसमें हों उसको तो विरक्त ही रहने दें। इससे जितने विपरीत हों उनको यथायोग्य हल ग्रहणादिक कर्मों में राजा लगा देवे। इस व्यवस्था को अवश्य करे अन्यथा कभी सुख न होगा।" (पृ० १९५)

"शंकराचार्य्य कोई सम्प्रदाय के पुरुष नहीं थे किन्तु वेदोक्त चार आश्रमों के बीच सन्यासाश्रम में थे। उनके विषय में लोगों ने संप्रदाय की नाई व्यवहार कर रक्खा है। दशनाम लोगों ने पीछे से कल्पित कर लिए हैं। जैसे किसी का नाम देवदत्त होय तो उसके अन्त में दश प्रकार के शब्द रखते हैं—देवदत्ताश्रम १ देवदत्तार्थ तीर्थ २ देवदत्तानन्द सरस्वती और इसी का दूसरा भेद देवदत्तेन्द्र सरस्वती ३ देवदत्त गिरी ४ देवदत्त पुरी ५ देवदत्त पर्वत ६ देवदत्त सागर ७ देवदत्तारण्य ८ देवदत्त वन ९ देवदत्तभारती १० ये दश नाम रच लिए हैं। फिर इनमें शृंगेरी, शारदा, भूगोवर्धन और ज्योति मठ, ये चार प्रकार के मठ मानते हैं। और दण्डियों ने दामोदर, नृसिंह, नारायण इत्यादिक दण्डों के नाम रख लिए हैं। उन में यज्ञोपवीत बांधते हैं; उसका नाम शंख मुद्रादिक रक्खा है। ऐसी ऐसी बहुत कल्पनाएं दण्डियों ने भी की हैं। किन्तु जो बाल्यावस्था में नाम

रहता था सोई सब आश्रमों में रहता था। जैसे कि जैगीषव्य, आसुरि, पंचशिखा और बोध्य-ऐसे ऐसे नाम संन्यासियों के महाभारत में लिखे हैं। इस से जाना जाता है कि यह पीछे से मिथ्या कल्पना दण्डी लोगों ने कर ली है। परन्तु फिर भी दण्डी लोग सनातन सन्यासाश्रमी हैं क्योंकि मनुस्मृत्यादिक में इनका व्याख्यान देखने में आता है। और गोसाईं लोगों ने भी दुर्गानाथ इत्यादिक मढ़ी शब्द कल्पित कर लिया है, जैसे कि वैरागी आदिक ने नारायणदास। इस में बड़ा बिगाड़ हुआ कि नीच और उत्तम की परीक्षा ही नहीं होती, क्योंकि सबका एकसा ही नाम दीख पड़ता है।" (पृ० ३८४, ३८५)

प्राचीनों की अस्त्र विद्या "अस्त्र विद्या यह कहाती है कि जो पदार्थों के परस्पर मेलन और गुणों से होती है, जैसा कि अग्नेयास्त्र। ऐसे पदार्थों का रचन करें कि वायु के स्पर्श से उससे अग्नि उत्पन्न होवे, फिर उसको फेंकने से, जो पदार्थ उसके समीप होय उसको वह भस्म ही कर देता है। जैसे दीपशलाका (दियासलाई) को घिसने से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही सब अस्त्र विद्या जाननी। इस प्रकार की आर्य्य वर्त में पूर्व, बहुत पदार्थ रचने की उन्नति थी। जैसे कि विशल्या एक औषधि, राजा लोग रच लेते थे; कैसा ही घाव शस्त्र से होजाय, उसको घिस के लगाया और उसी समय घाव पुर गया। और उसमें पीड़ा भी कुछ नहीं होती थी। तथा विमान अर्थात् आकाश यान बहुत प्रकारों के और जहाज़ समुद्र पार जाने के निमित्त तथा द्वीप द्वीपान्तर में जाते और आते थे ....जैन और मुसलमानों ने बहुत से इतिहास नष्ट कर दिए इस से बहुत बात यथावत् मिलती भी नहीं।" (पृ० २१९, २२०)

वेदोंके ईश्वरोक्त होने पर शङ्काओं का समाधान-"(प्रश्न) ईश्वर ने उन [विद्व]ानों के हृदयों में वेदों का प्रकाश किया, यह लोगोंने बात बनाली है। इस [वा]स्ते कि यदि हम लोग कहेंगे कि वेद ईश्वर के बनाए हैं तो वेदों में सब लोग श्रद्धा करेंगे और उनका प्रमाण भी करेंगे। परन्तु अनुमान से यह जाना जाता है कि उन अग्न्यादिक विद्वानोंने ही वेद बना लिए हैं। (उत्तर)-परमेश्वरने आकाश से लेकर क्षुद्र घास पर्यन्त जगत् को रच के प्रकाश कर दिया तब सर्वोत्कृष्ट सब पदार्थों का जिससे निश्चय होता है उस विद्या को प्रकाश न करे तो परमेश्वर में यह दोष आता है कि वह दयालु नहीं है, और छली भी है। ऐसा माननेपर

अनुमान से यह जाना जायगा कि अपनी विद्या का प्रकाश इस वास्ते नहीं किया कि कहीं विद्या पढ़ने से सब जीव ज्ञानी और सुखी न होजायं, और मुझको जान के अनन्त आनन्द युक्त भी न होजायं। इस प्रकार का दोष ईश्वर में आवेगा। जैसे कोई विद्या से आजीविका करता होय वह ऐसी इच्छा करता है कि अन्य कोई पंडित होगा तो मेरी प्रतिष्ठा दूर हो जायगी। ऐसा क्षुद्र बुद्धि मनुष्य चाहता है। और जो सज्जन लोग हैं वे तो सदा विद्यादिक गुणों का प्रकाश किया करते हैं। तो क्या परमेश्वर अपनी अनन्त विद्या का प्रकाश न करेगा? अवश्य ही करेगा, क्योंकि एक ओर सब जगत् और एक ओर विद्या, इन दोनों में से भी विद्या अत्यन्त उत्तम है। सो क्या ईश्वर आजीविकाधीन और प्रतिष्ठा के लोभ से विद्या का प्रकाश न करेगा? अवश्य ही करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। और जो कोई ऐसा कहे कि पंडितोंने वेद विद्या रच लिया है तो उससे पूछा जाता है कि वे बिना शास्त्र पढ़ने से पंडित कैसे हुवे? और जो वह कहे कि अपनी बुद्धि और विचार से होगए तो आजकल भी अपनी बुद्धि और विचार से हो जाना चाहिए...................." (पृ० २४२, २४३)

"प्रश्न—वेद की रचना कोई बुद्धिमान् हो सो कर सक्ता है क्योंकि—
घृत शुद्धं सनातनं विजानीहि घृतं ह वा देवानां देवर्षीणामृषिर्मुनीनाम्मुनिः।
ऐसे मन्त्र हवा शब्द जोड़कर वेद जैसी संस्कृत मनुष्य पंडित भी रच सक्ते हैं जैसा कि यह संस्कृत हमने रच लिया है। फिर आप कैसे वेद के रचने का (मनुष्य के लिये) असम्भव मानते हैं कि परमेश्वर के बिना वेद को कोई नहीं रच सक्ता? (उत्तर) हम लोग संस्कृत मात्र से वेद का निश्चय नहीं करते कि परमेश्वर ने रचा है क्योंकि संस्कृत तो जैसी तैसी पंडित रच सक्ता है, परन्तु उस संस्कृत में परमेश्वर के गुण नहीं दीख पड़ेंगे। जो मनुष्य रचेगा तो अवश्य कि स्थान में पक्षपात करेगा, और परमेश्वर किसी प्रकार से कभी पक्षपात न क॰ क्योंकि परमेश्वर पूर्णानन्द और पूर्ण काम है। सो वेद में किसी प्रकार से एक अक्षर में भी पक्षपात देखने में नहीं आता। फिर देहधारी सब विद्याओं में यथावत् पूर्ण कभी नहीं होता। जब कोई पुस्तक रचेगा तो जिस विद्या में निपुण होगा उस विद्या की बात अच्छी प्रकार से लिखेगा, परन्तु जिस विद्या को नहीं जानता उसका विषय जब आवेगा तो कुछ न लिख सकेगा, यदि लिखेगा भी तो अन्यथा

लिखेगा। और परमेश्वर सब विद्याओं के विषयों को यथावत् लिखेगा, सो वेदों में सब विद्या यथावत् लिखी हैं। यदि कोई बुद्धिमान् मनुष्य भी ग्रन्थ रचेगा तो भी उसमें सूक्ष्म दोष आवेंगे अर्थात् धर्म का भी किसी प्रकार से खण्डन और अधर्म का मण्डन थोड़ा बहुत अवश्य आजायगा। परमेश्वर के लेख में धर्म का खण्डन वा अधर्म का मण्डन किसी प्रकार से लेश मात्र भी न आवेगा। सो वेद में ऐसा ही है। मनुष्य की जितनी बुद्धि है उतना ही शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को जानेगा, अधिक नहीं। और वैसे ही शब्द अपने ग्रन्थ में लिखेगा, जिससे एक, दो, तीन, चार वा पांच प्रयोजन, जैसे तैसे, निकल सकें। और परमेश्वर सर्वज्ञ होने से शब्द, अर्थ और सम्बन्ध ऐसे रक्खेगा कि जिन से असंख्यात प्रयोजन (सिद्ध हों) और सब विद्या यथावत् आजाय। परमेश्वर का ही ऐसा सामर्थ्य है, अन्य का नहीं। ऐसे वेद ही हैं जिन से असंख्यात प्रयोजन (सिद्ध होते) और सब विद्या निकलती हैं। इस लिए वेदों से सब कार्य सिद्ध होते हैं क्योंकि परमेश्वर ने सब विद्यायुक्त वेदों को रचा है। और वेदों का नाम लिख के गोपालतापिनी, रामतापिनी, कृष्णतापिनी और अल्लोपनिषदादिक मनुष्यों ने बहुत ग्रन्थ रच लिए हैं, परन्तु यदि विद्वान् यथावत् विचार के देखें तो उन ग्रन्थों में वैसी ही क्षुद्रता दीख पड़ती है जैसी कि मनुष्यों की क्षुद्र बुद्धि है। सो परमेश्वर और उन के वचनों में दिन और रात का जैसा भेद है, वैसा भेद दीख पड़ता है।

(प्रश्न) वेद पौरुषेय हैं अथवा अपौरुषेय अर्थात् ईश्वर का रचा है वा किसी देहधारी का (उत्तर) वेद देहधारी का रचा कभी नहीं हो सकता किन्तु परमेश्वर ने ही रचा है। परन्तु वेद *अपौरुषेय और पौरुषेय (दोनों) भी हैं*। (क्यों) कि पुरुष देहधारी जीव का नाम है और पूर्ण होने से परमेश्वर का (नाम) (भी पुरुष है)। (वेद) अपौरुषेय तो इस लिये है कि किसी देहदारी जीव का रचा नहीं, और पौरुषेय इस वास्ते है कि पुरुष जो परमेश्वर उस ने रचा है और परमेश्वर की विद्या सनातन है, सोई वेद है, इस से भी वेद अपौरुषेय हैं क्योंकि परमेश्वर की जो विद्या वेद है उस की उत्पत्ति तथा विनाश कभी नहीं होता। (पृ० २४४, २४५)

(प्रश्न) वेदव्यास जी ने वेद रचे हैं इस से उन का नाम वेदव्यास पड़ा

है, यह बात भागवत में लिखी है। फिर आप यह बात कसी कहते हो कि वेद ईश्वर ने रचे हैं ? (उत्तर) यह बात अत्यन्त मिथ्या है, क्योंकि व्यास जी ने भी वेद पढ़े थे और अपने पुत्र शुकदेवादिकों को पढ़ाए थे और उन के पिता पराशर और पितामह शक्ति और प्रपितामह वशिष्ठ, ब्रह्मा और बृहस्पत्यादिकों ने पढ़े थे। जो व्यास के बनाये वेद होते तो वे कैसे पढ़ते, क्योंकि व्यासजी तो बहुत पीछे हुए हैं। और जो उन का नाम वेद व्यास पड़ा है सो इस रीति से कि—*वेदेषु व्यासो विस्तारो नाम विस्तृता बुद्धिर्यस्य स वेदव्यासः* । व्यास जी ने वेदों को पढ़के पढ़ाया जिस से सब जगत् में वेद का पठन पाठन फैल गया और उन की बुद्धि वेदों में विशाल थी, कि यथावत शब्द अर्थ और सम्बन्ध से वेदों को जानते थे, इस से उन का नाम वेदव्यास रक्खा गया। पहले इन का नाम कृष्णद्वैपायन था वेदव्यास नाम विद्या के गुणों से हुआ। इस से भागवत में जो बात लिखी है सो वेदों की निन्दा के हेतु लिखी है। उस का यह अभिप्राय था कि जिस ने वेद रचे हैं उसी ने भागवत भी रचा है। वेदों के पढ़ने से व्यास जी को शान्ति न हुई किन्तु भागवत के रचने से उन को शान्ति मिली। और भागवत वेदों का फल है, अर्थात् वेदों से भी उत्तम है। सो यह बात दुर्बुद्धि *बोपदास* की कही है, क्योंकि व्यासजी के नाम से उस ने सब भागवत रचा है, इस हेतु कि व्यासजी का नाम लिखने से सब लोग प्रमाण करेंगे और कि वेदों की निन्दा और अपने ग्रन्थ की प्रवृत्ति के होने से सम्प्रदाय की वृद्धि और धन का लाभ होगा। इस से सज्जन लोग इस बात को मिथ्या ही मानें।

(पृ० २४८, २४९)

" ईश्वर ने *सर्वज्ञ भाषा* में वेद रचे हैं कि किसी देश की भाषा न रहे और सब भाषा जिस से निकलें। सँस्कृत किसी देश विशेष की भाषा नहीं जैसे ईश्वर किसी देश (विशेष) का नहीं किन्तु सब देशों का स्वामी है, वैसे ही संस्कृत भाषा है, किसी एक देश की नहीं।

(प्रश्न) देवलोक और आर्यावर्त्त की प्रथम भाषा संस्कृत थी। इसी को मुसलमान् लोग जिन्नभाषा कहते हैं। क्योंकि जैसी प्रवृत्ति संस्कृत की पहिले आर्यावर्त्त में थी वैसी किसी देश में न थी। जिस देश में कुछ प्रवृत्ति हुई होगी सो आर्यावर्त्त से ही हुई होगी। अब भी आर्यावर्त्त

में अन्य देशों से संस्कृत की अधिक प्रवृत्ति है। इस से यह निश्चय होता है कि संस्कृत भाषा आर्य-वर्त्त की मुख्य भाषा थी। (उत्तर) यह देवलोक की भाषा नहीं क्यों कि *बृहस्पतिः प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता*। यह महाभाष्य का वचन है। इन्द्र ने बृहस्पति से संस्कृत पढ़ी और बृहस्पति ने अङ्गिरा प्रजा-पति से, उसने मनु से मनु ने विराट से विराट ने ब्रह्मा से, ब्रह्मा ने हिरण्य गर्भादिक देवों से और उन्होंने ईश्वर से। जो देवलोक की भाषा होती तो वे क्यों पढ़ते और पढ़ाते, क्यों कि देश भाषा तो परस्पर के व्यवहार से आजाती है। इस लिए देवलोक की भाषा संस्कृत नहीं, और जब ब्रह्मादिकों की भाषा संस्कृत नहीं तो आर्य्यावर्त्त देश वालों की कैसे होगी? कभी नहीं। परन्तु ऐसा जाना जाता है कि आर्यवर्त्त देश में पहले प्रवृत्ति अधिक थी। सब ऋषि, मुनि और राजा आर्य्यवर्त्त देश वासी लोगों ने परम्परा से संस्कृत पढ़ा और पढ़ाया है। इस से आर्य्यवर्त्त देश की भाषा भी संस्कृत नहीं।

और जो मुसलमान लोग इस को जिन्न भाषा कहते हैं, सो तो केवल ईर्षा से कहते हैं, जैसे आर्य्यावर्त्त देश वासियों का नाम हिन्दू रख दिया। यह संस्कृत जिन्नभाषा भी नहीं, क्यों कि जिन्न तो भूत, प्रेत, पिशाचों ही का नाम है। (*प्रथम तो*) *भूत, प्रेत, और पिशाच होते ही नहीं* और जो होते होंगे तो लोकान्तर में होते होंगे, यहां नहीं। फिर उन की भाषा यहां कैसे आसकेगी? इस से यह बात अत्यन्त मिथ्या है, क्यों कि उन (जिन्नों) को ऐसी पदार्थविद्या और धर्माधर्म के विवेक की बुद्धि नहीं, फिर वे सर्वोत्तम संस्कृत विद्या को कैसे कह वा रच सकते हैं? और रचते होते तो अन्य देशों में भी रचलेते, तथा किसी पुरुष से अब भी कहते। इस से ऐसी बात सज्जन लोगों को न माननी चाहिए।

(प्रश्न) भिन्न भिन्न सब देश भाषा कैसे बन गईं और किस से बनीं?

(उत्तर) सब देश भाषाओं का मूल संस्कृत है। संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश कहाता है। फिर अपभ्रंश से देश भाषाएं होती हैं। जैसे कि 'घट' शब्द से घड़ा, 'घृत' शब्द से घी, 'दुग्ध' शब्द से दूध, 'नवीन' शब्द से नैनू, 'अक्षि' शब्द से आंख, 'कर्ण' शब्द से कान, 'नासिका' शब्द से नाक, 'जिह्वा' शब्द से जीभ, 'मातर' शब्द से मादर, 'यूयं' शब्दसे यू (you),

'वयं' शब्द से वी (We)' 'गूढ़' शब्द से गौड (God)' इत्यादिक जान लेना। और एक पदार्थ के बहुत नाम हैं जैसे कि गौः..................इत्यादि २१ नाम पृथ्वी के हैं। सो भिन्न २ देशों में भिन्न भिन्न इक्कीस नामों से भिन्न २ का अपभ्रंश होने से भिन्न भिन्न भाषा बन जाती हैं। और एक नाम बहुत अर्थों का होता है जैसे कि *सिंह, बानर, घोड़ा, सूर्य, मनुष्य, देव* और चोर इत्यादिक का नाम *हरि* है। इससे भी भिन्न २ देश में भिन्न २ भाषा होती हैं क्यों कि किसी देश में सिंह नाम से उस पशु का व्यवहार किया, किसी देश में हरि शब्द से वानर का ग्रहण किया, किसी देश में हरि शब्द से घोड़े को लिया, किसी देश में हरि शब्द से सूर्य को लिया, किसी देश में हरि शब्द से चोर को लिया—इस हेतु देशभाषा भिन्न २ हो गई। और मनुष्यों के उच्चारण भेद से भी भाषा भिन्न २ हो जाती हैं। जैसे कि 'जञ' ये दोनों अकार में मिलने से अक्षर "ज्ञ" होता है; सो आज कल यह 'ज्ञ' लिखा जाता है। इस एक अक्षर के अन्यथा उच्चारण से तीन भेद हो गए हैं। गुजराती लोग गकार और नकार का उच्चारण करते हैं, महाराष्ट्रादिक दाक्षिणात्य लोग दकार और नकार का उच्चारण करते हैं और अन्य लोग गकार और यकार का उच्चारण करते हैं। तथा तालव्य 'श' मूर्द्धन्य 'ष' और दन्त्य 'स' इन तीनों के स्थान में बंगाली तालव्य 'श' का उच्चारण करते हैं, मध्य और पश्चिम देश वाले तीनों के स्थान में दन्तस्थ 'स' का उच्चारण करते हैं, तथा किसी की जीभ कठिन होती है तो वह प्रायः शब्दों का अन्यथा उच्चारण करता है। और जिस देश में विद्या का लेश भी न हो उस देश में व्यवहार करने के हेतु शब्दों का सङ्केत कर लेते हैं, कि इस शब्द से इस को जानना और इस शब्द से इसको जानना। जैसे दाक्षिणात्य लोगों ने घी का नाम 'तूप' रखलिया और उत्तर देश पर्वत वासियों ने घी का नाम चोखा रख लिया और गुजरातियों ने चावल का नाम 'चोखा' रख लिया इससे भी देशान्तर की भाषा भिन्न २ हो गई है। अन्य कारणों को भी विचार लेना (चाहिये)" (पृ० २४९–२५१)

अशुद्धि कहां से आई—(प्रश्न) परमेश्वर ने सब पदार्थ शुद्ध रचे हैं या कोई पदार्थ अशुद्ध भी रचा है! (उत्तर) परमेश्वर ने सब पदार्थ अपने अपने

स्थान में शुद्ध ही रचे हैं, अशुद्ध कोई नहीं। परन्तु विरुद्ध गुण वाले अपने २ प्रतिकूल होने से, परस्पर मिलने वा मिलाने के समय उन वस्तुओं को अशुद्ध कहते हैं। जैसे कि दूध और लवण जब मिलते हैं तब वे दोनों नष्ट गुण हो जाते हैं क्योंकि दोनों का स्वाद बिगड़ जाता है। परन्तु उन्हीं दोनों का, पदार्थ विद्या की युक्ति से, तृतीय पदार्थ कोई रचले तो फिर भी वह उत्तम हो सकता है। जैसे सर्प, मक्खी, वे भी अपने स्थान में शुद्ध हैं, क्योंकि वैद्यक शास्त्र की युक्ति से इनकी भी बहुत औषधियां अनुकूल पदार्थ में मिलाने से बनती हैं। परन्तु वे मनुष्य वा किसी (अन्य) को काटें अथवा भोजन में खा लेने से दोष करने वाले होते हैं। ऐसे ही अन्य पदार्थों का विचार कर लेना।" (पृ०२६२)

स्वर्ग, नरक—स्वर्ग और नरक है वा नहीं! (उत्तर) सब कुछ है; क्योंकि परमेश्वर के रचे असंख्यात लोक हैं। उनमें से जिन लोकों में सुख अधिक है और दुःख थोड़ा, उनको स्वर्ग कहते हैं; तथा जिन लोकों में दुःख अधिक और सुख थोड़ा है उनको नरक कहते हैं और जिन लोकों में सुख और दुःख तुल्य है उनको मर्त्यलोक कहते हैं। इस प्रकार के स्वर्ग मर्त्य और नरकलोक बहुत हैं उनमें भी अनेक प्रकार के स्थान और पदार्थ हैं कि जिन में सुख वा दुःख, अधिक वा न्यून है इसी हेतु से परमेश्वरने सब प्रकारके स्थान और पदार्थ रचे हैं कि पापी, पुण्यात्मा और मध्यस्थ जीवों को यथावत् फल मिले, अन्यथा न होय। जैसे कि राजा के उत्तम, मध्यम और नीच स्थान होते हैं जिन से उत्तम, मध्यम और नीचों के यथावत व्यवहार की व्यवस्था होती है। परमेश्वर का सम्पूर्ण जगत् में यथावत् अखण्डित राज्य है और यथावत् न्याय से उस की व्यवस्था है। फिर परमेश्वर के राज्य में स्वर्ग, नरक और मर्त्य लोकादिकों की व्यवस्था कैसे न होगी? अर्थात् अवश्य होगी।" (पृ० २६४)

अविद्या का लक्षण "*अनित्या शुचि दुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या*। ....अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा-ये जैसे हैं वैसे न जानना किन्तु इन में नित्य, शुचि, सुख और आत्मा की बुद्धि का होना। जैसे कि—'अमरा निर्जरा देवा' इत्यादिक वचनों से नित्य निश्चय का जो करना कि *स्वर्गादि लोक और ब्रह्मादि देव नित्य हैं ऐसा अज्ञान बहुत मनुष्यों को है*। परन्तु वे विचार कर देखें कि जिन की उत्पत्ति होती है, वे नित्य कैसे होंगे?

कभी नहीं। जो पदार्थ बहुत पदार्थों के संयोग से होता है वह संयोग से बना हुआ पदार्थ उन पदार्थों के वियोग से अवश्य नष्ट हो जावेगा। ब्रह्मादिकों के शरीर और स्वर्गादिक सब लोकसंयोग से बने हैं, उन का वियोग से अवश्य नाश होता ही है। फिर जो इन अनित्य पदार्थों में नित्य निश्चय होना, और नित्य जो परमेश्वर तथा परमेश्वर के नित्य गुण, धर्म और विद्या उन को नित्य न जानना, कभी उन के जानने में इच्छा का भी न होना—यह अविद्या का प्रथम भाग है।

अशुद्ध पदार्थों में शुद्ध का और शुद्ध पदार्थ में अशुद्ध का निश्चय होना—जैसे कि इस शरीर के सब मार्गों से मल ही निकलता है। कान, आंख, नाक, मुख तथा नीचे के छिद्र और लोमों के छिद्रों से भी दुर्गन्ध ही निकलता है। परन्तु जिनकी बुद्धि विषयासक्त होती है, वे उसमें शुद्ध बुद्धि ही करते हैं। तथा स्त्री भी पुरुष के शरीर में शुद्ध बुद्धि करती है। ऊपर के चाम को देख के मोहित हो जाते हैं। फिर अपना बल, बुद्धि, पराक्रम, तेज, विद्या और धन उसके हेतु नाश कर देते हैं। जो उनकी उसमें प्रवृत्त-बुद्धि न होती तो ऐसे (अपवित्र) काम में प्रवृत्त न होते। सो बड़े २ राजा, बड़े २ धनाढ्य और महात्मा लोग तथा मिथ्या विरक्त लोग जो हैं, वे इस काम में नष्ट हो जाते हैं। उनके हृदयों में कभी इस बात का विचार भी नहीं होता कि जैसे अग्नि में पतंग गिर कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे वे भी, ऐश्वर्य सहित, नष्ट हो जायंगे। और पवित्र जो परमेश्वर, विद्या और धर्म, इन में उनकी बुद्धि कभी नहीं जाती—यह अविद्या का दूसरा लक्षण है। ...." (पृ० २६६, २६७)

गुण छिपाने का दोष—"जो पुरुष अभिमानादिक दोष रहित और नम्रतादि गुण युक्त होके सेवा से दूसरे का चित्त प्रसन्न कर देता है, वही श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त होता है। वैसे ही कपटादिक दोष रहित और दूसरे की परीक्षा करने में निपुण अर्थात् यह जानने वाला, कि गुरु में कौन २ गुण हैं, फिर यथावत् गुणों का बुद्धि से निश्चय करले कि इसमें ये सत्यगुण हैं। पीछे जिस प्रकार से वे गुण मिलें उन, सेवादिक प्रकारों, से गुणों को अवश्य ग्रहण करे। ग्रहण करके गुणों को प्रकाश करदे। और जो कोई उन गुणों को ग्रहण करना चाहे उसको प्रीति से निष्कपट हो के गुणों को दे दे क्योंकि गुणों को गुप्त रखना किसी

मनुष्य के लिए भी उचित नहीं । जो *गुणों को गुप्त रखता है वह बड़ा मूर्ख मनुष्य है और धर्म तथा परमेश्वर का अत्यन्त विरोधी है ।* " (पृ० २७६)

बनावटी और वास्तविक छूत—"जो अपने ही देश में रहते हैं और अन्य देश में जाने तथा वहां के निवासियों का स्पर्श करने में छूत मानते हैं वे विचार रहित पुरुष हैं । देखना चाहिये कि मुसलमान वा अंगरेज से छूने में दोष मानते हैं और मुसलमानी वा अंगरेज़ के देश की स्त्री के साथ संग करते हैं, और अपने घर में रख लेते हैं, उससे कुछ भेद नहीं रहता यह बड़े अन्धेर की बात है कि मुसलमान और अंगरेज़ जो भले आदमी हैं उन से तो छूत गिनना और वेश्यादिकों में छूत न मानना । यह केवल युक्ति शून्य बात है । " (पृ०२९९,३००)

" महाभारत में लिखा है कि जब राजसूय और अश्वमेधयज्ञ युधिष्ठिरादिकों ने किए थे उनमें सब द्वीप द्वीपान्तरों और देश देशान्तरों के ब्राह्मण; क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र—राजा और प्रजा -आए थे । उनकी एकही पंक्ति होती थी, और शूद्र ही पाक करने वाले और परोसने वाले थे । एक पंक्ति में सब के साथ सब भोजन करते थे । तथा कुरुक्षेत्र के युद्ध में जूते, वस्त्र, शस्त्र (धारण किये) और रथ के ऊपर बैठे हुए भोजन करते थे और युद्ध भी करते जाते थे; कुछ शङ्का उनको न थी । तभी उनका विजय होता था, और आनन्द से राज्य करते थे । और जो भोजन में बड़े बखेड़े करते हैं वे भूख के मारे मरजायंगे, युद्ध क्या कर सकेंगे ! अब भी जयपुरादि देशों के क्षत्रिय लोग नापितादिकों के हाथ का भोजन करते हैं, सो बात सनातन है और बहुत अच्छी है । तथा सारस्वत और खत्री लोगों का एक ही भोजन है, सो अच्छी बात है । और गौड़ तथा अग्रवाले बनियों का भी एक भोजन प्रायः है, सो भी अच्छी बात है । और गुजराती, महाराष्ट्र तैलङ्ग, द्राविड़ तथा कर्नाटक—इन में भोजन के बड़े बखेड़े हैं; इन पांचों से गुजराती लोगों के भोजन का बड़ा पाखण्ड है । महाराष्ट्रादिक चारों द्रविड़ों का तो एक भोजन है, परन्तु गुजराती लोगों का आपस में बड़ा भेद है । सब से अधिक पाखण्ड, भोजन में, कान्यकुब्ज करते हैं, क्योंकि वे जल भी पीते हैं तो जूते उतार और हाथ पैर धोके पीते हैं, और चौका दे के चना चबाते हैं, सो बड़ा दुःख पाते हैं । *उन के चौका बर्तन ही हाथ रह गए और कुछ नहीं रहा* और सर्यूपारियों में भी भोजन का बड़ा पाखण्ड है । ये केवल बाहर से मिथ्या

पाखण्ड चलाते हैं। भोजन में सब से अत्यन्त पाखण्ड चक्रांकितादि बैरागियों का है, ऐसा औरों का नहीं । क्योंकि जब जगन्नाथ के दर्शन को जाते हैं तब चाण्डालादिकों का जूठा खा लेते हैं, और फिर अपनी पंक्ति में मिल जाते हैं उन का मिथ्या पाखण्ड भी नहीं रहा..................सत्य बात का ही निर्वाह होता है, झूठ का कभी नहीं । राजादिक धनाढ्य वेश्याओं को घर में रखलेते हैं उन से कुछ भेद नहीं रहता । उन को कोई नहीं कहता । क्योंकि कहें तब, जब स्वयम् निर्दोष हों, सो परस्पर दोषों को छिपाते हैं और गुणों को छोड़ते जाते हैं यह सब अनाचार है ।" (पृ० ३०४, ३०५)

"और जो पशुओं के बछड़ों को दूध नहीं देते और सब आप ही दुह लेते हैं, यह भी अनाचार है। क्योंकि पशु पुष्ट कभी नहीं होते, फिर पुष्टि के बिना दुग्धादिक भी थोड़ा होता है और पशु भी बलहीन होते हैं । सो एक मास तक जितना वह (बछड़ा) पिए उतना देना चाहिए । फिर एक स्तन का दूध दुहले, शेष सब बछड़ा पिए ! फिर जब दो मास के पीछे वह बछड़ा घास, पात खाने लगे तब आधा दूध सब दिन छोड़दे, और आधा दुहले । तब पशु भी पुष्ट होय और दुग्धादिक भी बहुत होय। फिर उन दुग्धादिकों से मनुष्यों की पुष्टि भी हुआ करे..........जो पदार्थ सत्यधर्म के व्यवहार से प्राप्त होय उन का खाना पीना तो पुण्य है । और जो चोरी तथा छल कपट व्यवहार से खाना पीना करे तो अवश्य पाप होता है । सो खाने पीने में जितने भेद हैं वे विरोध, दुःख और मूर्खता के कारण हैं । इन बखेड़ों से आर्यावर्त में पुरुष और स्त्री लोग विद्या बल, बुद्धि, पराक्रम हीन हो गए हैं । प्रथम देश देशान्तरों में सब वर्णों में, पूर्वोक्त वर्णानुक्रम से, विवाह शादी होती थी। फिर भोजन में कैसे भेद होगया? यह भेद थोड़े दिनों से चला हैं, जब से नाना प्रकार के मत मतान्तर चले और मनुष्यों की बुद्धि में, परस्पर विरोध होने से, प्रीति नष्ट हो गई और वैर है। इसी से एक दूसरे के उपकार में चित्त नहीं देता तथा अपने देश के मनुष्यों के हेतु कोई प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु अपने अपने मतलब में रहते हैं । इसी लिए सब का नाश होता जाता है । यह बड़ा अनाचार है । विचार से शुद्ध पदार्थ के खाने में किसी का परलोक वा धर्म नहीं बिगड़ता, परन्तु विद्या और विचार के न होने से इन बखेड़ों में पड़कर मनुष्य सदा दुखी रहते हैं । यदि परस्पर गुण-ग्रहण करें तो सुखी हो जायं ।

देखना चाहिए कि जब समय पर भोजन नहीं प्राप्त होता है, तो दुःख होता है। दरिद्र लोग भोजन के पात्रों को उठाके, बैलों की नाईं लादे फिरते हैं; और धनाढ्य लोग बहुत रसोईदार आदिक साथ में रखते हैं, उस से बहुत धन व्यर्थ खर्च हो जाता है। इत्यादिक व्यवहार बुद्धिमान् लोग विचार लें। युक्त व्यवहार करें अयुक्त कभी नहीं।" (पृ० २०६, २०७)

जैनों का आर्यावर्त्तमें प्रवेश—"अत्यन्तप्रमाद और विषयासक्ति से विद्या बुद्धि, बल, पराक्रम और शूरवीरता नष्ट होगई और परस्पर ईर्ष्या अत्यन्त होगई एक को एक देख न सकता और कोई किसी का सहायकारी न रहा और परस्पर लड़ने लगे। यह बात चीनादिक देशों में रहने वाले जैनियों ने सुनी, जो व्यापारादिक करने के लिये इस देश में आते थे उन्होंने प्रत्यक्ष भी देखा। फिर जैनों ने विचार किया कि इस समय आर्य्यवर्त देश में राज सुगमता से हो सक्ता है। फिर वे आए और राज्य भी आर्य्यवर्त में करने लगे। फिर धीरे धीरे बोधगया में राज्य जमाके देश देशान्तर में फैलाने लगे। वेदादिक संस्कृत पुस्तकों की निन्दा करने लगे और अपने पुस्तकों के पठन पाठन का प्रचार, तथा अपने मत का उपदेश भी करने लगे। सो इस देश में विद्या के न होने से बहुत मनुष्यों ने उनके मत को स्वीकार कर लिया, परन्तु कन्नौज, काशी, पर्वत, दक्षिण और पश्चिम देश के पुरुषों ने स्वीकार नहीं किया था। परन्तु वे बहुत थोड़े ही थे, वे ही वेदादिक पुस्तकों का पठन और पाठन करते और कराते थे। फिर इन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था और वेदोक्त कर्मों पर मिथ्या दोष लगाके, उनमें अश्रद्धा और अप्रवृत्ति बहुत करादी। फिर यज्ञोपवीतादिक क्रम भी प्रायः नष्ट होगया, और वेदादिकों का जो जो पुस्तक पाया तथा पूर्व के जो इतिहास मिले उनका प्रायःनाश 'दिया, जिससे कि इनकी पूर्व अवस्था का स्मरण भी न रहे। फिर जैनों का ज्य इस देश में अत्यन्त जम गया। तब जैन भी बड़े अभिमानी होगए और कुकर्म, अन्याय भी करने लगे क्योंकि सब राजा और प्रजा उन्हीं के मत में हो गए थे। फिर उनको डर वा शंका किसी की न रही। अपने मत वालों को अच्छे अच्छे अधिकार और प्रतिष्ठा करने लगे और वेदादिकों को जो पढ़े और उनमें कहे कर्म करे उनकी अप्रतिष्ठा करने लगे..........और बहुत स्थानों में मन्दिर रच लिये और उनमें और आचार्यों की मूर्ति स्थापन करदी तथा उनकी पूजा

भी अत्यन्त करने लगे। जैनों के राज्य ही से मूर्तिपूजा चली, इससे पहले न थी, क्योंकि जितने महाभारत युद्ध से पहले रचे गए ऋषि मुनियों के बनाए प्राचीन ग्रन्थ हैं उनमें मूर्ति पूजा का लेशमात्र भी कथन नहीं है। इससे दृढ़ निश्चय से जाना जाता है कि इस आर्य्यावर्त देश में मूर्तिपूजा नहीं थी किन्तु जैनों के राज्य से ही चली है।" (पृ० ३११, ३१२)

महमूद ग़ज़नवी—आर्यों में मूर्तिपूजा के प्रचार का इतिहास लिख कर महमूद के विषय में लिखा है—"फिर प्रायः मूर्ति पूजन आर्य्यावर्त्त में फैला। एक महमूद ग़ज़नवी इस देश में आया और बहुत सी मूर्तियां सोने और चांदी की लूट ले गया, बहुत पुजारी और पंडितों को पकड़ लिया रात को पिसना पिसावे और दिने जाज़रूर आदिको साफ़ करावे। और जहां कोई पुस्तक पाया उसको नष्ट भ्रष्ट कर दिया। ऐसे वह आर्यावर्त में बारह दफ़े आया और बहुत लूट मार, अत्यन्त अन्याय उसने किया और इस देश की बड़ी दुर्दशा की, यहां तक कि बहुतों का शिरच्छेदन कर दिया। बिना अपराध से स्त्री, कन्या और बालक को भी पकड़ के दुःख दिया और बहुतों को मार डाला। ऐसा उसने बड़ा अन्याय किया। *सो जिस देश में ईश्वर की उपासना को छोड़ के काष्ठ, पाषाण, वृक्ष, घास, कुत्ते, गधे और मिट्टी आदि की पूजा होगी, उस देशको ऐसा ही फल होगा, उत्तम कहां से होगा।*" (पृ० ३१७) फिर सोमनाथ के मन्दिर की दुर्दशा का विस्तृत वर्णन करके अग्निकुल के क्षत्रियों की उत्पत्ति भी अपने मतानुसार ही लिखी है।

अग्निकुलके चार क्षत्रिय राजे-" और (महमूद) डाकू की नांई आता था और मारके जो कुछ पाता था अपने देश को ले जाता था। उस दिन से मुसलमान दरिद्र से धनाढ्य होगए हैं, सो आर्यावर्त के प्रताप से आज तक भी धनवान् चले आते हैं, और आर्य्यावर्त देश अपने ही दोषों से नष्ट होता जाता है.........
फिर चार ब्राह्मणोंने विचार किया कि कोई क्षत्रिय राजा इस देश मे नहीं है, इसका कुछ उपाय करना चाहिए। ये चारों ब्राह्मण अच्छे थे, [illegible] सब मनुष्यों पर कृपा करके अच्छी बात विचारी, यह अच्छे पुरुषों का काम है, [illegible] का नहीं। फिर उन्होंने क्षत्रियों के बालकों में से चार अच्छे बालक छांट [illegible] और उन क्षत्रियों से कहा कि बालकों के खाने पीने का प्रबन्ध तुम रखना। उन्होंने स्वीकार किया और सेवक भी साथ रख दिए। वे सब आबूराज पर्वत

पर जाकर रहे और (ब्राह्मण) उन बालकों को अक्षराभ्यास और श्रेष्ठ व्यवहारों की शिक्षा करने लगे। उन का यथाविधि संस्कार भी किया, सन्ध्योपासन और अग्निहोत्रादिक वेदोक्त कर्मों की शिक्षा भी उन को दी। फिर व्याकरण, छःदर्शन काव्यालंकार सूत्र और सनातनकोष, यथावत् पदार्थ विद्या उन को पढ़ाई। फिर वैद्यक शास्त्र तथा गान विद्या, शिल्प विद्या और धनुर्विद्या अर्थात् युद्धविद्या भी उन को अच्छी प्रकार से पढ़ाई। फिर राजधर्म जैसा कि प्रजा के साथ बर्ताव करना और न्याय करना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना यह भी सब पढ़ाया। ऐसे पच्चीस वा छब्बीस वर्ष की उमर उन की हुई। और उन पंडितों की स्त्रियों ने, ऐसे ही, चार रूप गुण सम्पन्न कन्याओं को अपने पास रख के व्याकरण, धर्मशास्त्र, वैद्यक, गान विद्या तथा नाना प्रकार के शिल्प-कर्म उन को पढ़ाए और व्यवहार की शिक्षा भी उन को दी। तथा युद्धविद्या गर्भ में बालकों का पालन और पति सेवा का उपदेश भी यथावत् (उन कन्याओं को) किया। फिर उन चारों पुरुषों को परस्पर युद्ध करने और कराने का यथावत् अभ्यास कराया।

फिर जब चालीस चालीस वर्ष के वे पुरुष हुए और बीस बीस वर्ष की वे कन्याएं हुईं तब उन की प्रसन्नता और गुण परीक्षा से एक से एक का विवाह कराया। जब तक उनका विवाह नहीं हुआ था तब तक उन पुरुषों और कन्याओं की यथावत् रक्षा की गई थी। इस से उन को विद्या और उन के शरीर में बल बुद्धि तथा पराक्रमादि गुण भी यथावत् (प्रकाशित) हुए थे। फिर उन से ब्राह्मणों ने कहा कि तुम लोग हमारी आज्ञा का पालन करो। तब उन सभों ने कहा कि जो आपकी आज्ञा होगी वही हम करेंगे। तब ब्राह्मणों ने उन (क्षत्रिय पुरुषों) से कहा कि हम ने जो तुम पर परिश्रम किया है सो केवल जगत् के [illegible] हेतु किया है। आप लोग देखो कि आर्यावर्त्त में ग़दर मच रहा है [illegible]सलमान लोग आकर इस देश की बड़ी दुर्दशा करते हैं और धनादिक [illegible]कर ले जाते हैं। सो इस देश की नित्य दुर्दशा बढ़ती जाती है। आप [illegible] यथावत् राज धर्म का पालन करो और दुष्टों को यथावत् दण्ड दो। परन्तु एक उपदेश सदा हृदय में रखना। जब तक वीर्य की रक्षा करते हुए जितेन्द्रिय रहोगे तब तक तुम्हारा सब काम सिद्ध होता जायगा। और हमने तुम्हारा अब

जो विवाह कराया है सो कार्य केवल परस्पर की रक्षा के लिये किया है, कि तुम और तुम्हारी स्त्रियां संग संग रहोगे तो बिगड़ोगे नहीं। केवल सन्तानोत्पत्ति मात्र विवाह का प्रयोजन जानना और परपुरुष वा पर स्त्री का चिन्तन भी नहीं करना, विद्या तथा परमेश्वर की उपासना और सत्यधर्म में सदा स्थित रहना। जब तक तुम्हारा राज्य न जमे तब तक स्त्री पुरुष दोनों ब्रह्मचर्याश्रम में रहो क्योंकि जो क्रीड़ासक्त होगे तो बलादिक तुम्हारे शरीर से न्यून हो जायंगे। तब युद्धादिक में उत्साह भी न्यून हो जायगा।

और हम भी एक एक के साथ एक एक रहेंगे। सो हम और आप लोग चलें और चल के यथावत् राज्य का प्रबन्ध करें। फिर वे वहां से चले। ये चार इन नामों से प्रख्यात थे-पंवार, चौहान, सोलंखी, आदि। उन्होंने दिल्ली आदिक में राज्य किया था, कुछ कुछ प्रबन्ध भी किया था" (पृ०३२२.३२४)

प्राचीन राजों की प्रशंसा और वृटिश राज्य—महाभारत युद्ध से पहले आर्यावर्त देश में अच्छे २ राजा होते थे। उन की विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम तथा धर्मनिष्ठता और शूरवीरतादिक गुण प्रख्यात थे, इस से उन का राज्य यथावत् होता था। सो इक्ष्वाकु, सगर, रघु, दिलीप आदिक चक्रवर्ती हुए थे और किसी प्रकार का पाखण्ड उन में नहीं था। सदा विद्या की उन्नति और अच्छे २ कर्म आप करते थे तथा प्रजा से कराते थे, इसी लिये उन का पराजय नहीं होता था अधर्म से युद्ध नहीं करते थे और न अधर्म द्वारा उस युद्ध से निवृत्त होते थे। उस समय से लेके जैन राज्य के पहले तक इसी देश के राजा होते थे, अन्य देश के नहीं। जैनों ने और मुसलमानों ने इस देश को बहुत बिगाड़ा है, सो आज तक बिगड़ता ही चला आता है। आज कल अंगरेज़ के राज्य होने से उन (जैन और मुसलमान) राजाओं के राज्य की अपेक्षा सुख हुआ है। क्योंकि अंगरेज़ लोग मत मतान्तर की बात में हाथ नहीं डालते; और जो पुस्तक अच्छा पाते हैं उस की भली प्रकार रक्षा करते हैं। जिस पुस्तक पर पहिले सौ रुपये लगते थे छापा होने पर वह पुस्तक पांच रुपयों में मिलता है। परन्तु अंगरेज़ों ने भी एक काम अच्छा नहीं किया, जो कि चित्रकूट पर्वत पर महाराजा अमृतराय जी के पुस्तकालय को जला दिया। उस में करोड़ों रुपयों के लाखों अच्छे २ पुस्तक नष्ट हो गये। आर्यावर्त्त वासी लोग यदि इस समय

सुधर जांय तो सुधर सकते हैं। और जो पाखण्ड ही में रहेंगे तो इन का अधिक से अधिक नाश होगा, इस में सन्देह नहीं, क्योंकि आर्यावर्त्त-देश के बड़े २ राजा और धनाढ्य लोग यदि ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या का प्रचार, धर्म से सर्व व्यवहारों का करना और वेश्या तथा परस्त्रीगमनादिकों का त्याग करें तो देश के सुख की उन्नति हो सकती है।" (पृ० ३२५, ३२६)

अन्य देशीय भाषा पढ़ने का विधान-" मुसल्मान की भाषा पढ़ने में, अथवा किसी अन्य देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता किन्तु गुण ही होता है। *अपशब्द ज्ञान पूर्वके शब्द ज्ञाने धर्मः*। यह व्याकरण महा भाष्य का वचन है इसका यह अभिप्राय है कि 'अप' शब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिए अर्थात् सब देश देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए। क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का उपकार होता है, और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है, जितने देशों की भाषा जाने उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है। क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़ के ही सब देशभाषा होती हैं। इससे उनके ज्ञान से परस्पर संस्कृत और भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है। इसी हेतु महाभाष्य में लिखा है कि 'अप' शब्द ज्ञान पूर्वक शब्द ज्ञान में धर्म होता है।" (पृ० ३२७)

धर्म प्रचार में निर्भयता-"(प्रश्न) आजतक बहुत पण्डित पहले भए और बहुत पण्डित अब भी हैं जो मूर्त्तियों का पूजन भी नहीं करते हैं; परन्तु खण्डन कोई नहीं करता। पर आप बड़े पण्डित आए जो खण्डन करते हैं। सो आप का कहना कौन मानता है? (उत्तर) प्रथम मैं आप से पूछता हूं कि पण्डित कौन होता है? यदि आप कहें कि पञ्चांग, शीघ्रबोध, महूर्त्त चिन्तामणि आदिक, सारस्वत चन्द्रिका, कौमुद्यादिक, तर्क संग्रह, मुक्तावल्यादिक, भागवतादिक पुराण, मन्त्र महोदध्यादिक तन्त्र ग्रन्थ और तुलसीकृत रामायणादिक भाषा पढ़ने से पण्डित होता है (तो ठीक नहीं, क्योंकि इनसे तो) अविवेकी ही बन जाता है क्योंकि—*सदसद्विवेककर्त्री बुद्धिः पण्डा, पण्डा संजाता अस्येति पण्डितः*। जो बुद्धि सदसद्विवेक करने वाली हो उसका नाम 'पण्डा' है और वही पण्डा अर्थात् विवेक युक्त बुद्धि जिसकी हो वही पण्डित होता है। सो आप लोग विचार के देखें कि यथावत् धर्म और अधर्म तथा सत्य और असत्य का विवेक इनको है वा

नहीं, जिनको आप पण्डित कहते हो। और जो मूर्ख हैं वे तो आज कल कोई कोई अधर्म से डरते भी हैं, किन्तु पण्डित लोग प्रायः नहीं डरते। हां! कोई एक पण्डित सैकड़ों में अच्छा भी है; परन्तु उस एक की वे धूर्त लोग बात ही चलने नहीं देते। और वह सत्य जानता भी है तो मन ही में सत्य बात रखता है। क्योंकि यदि वह सत्य कहे तो सब (धूर्त) मिलके उसकी दुर्दशा कर देते हैं। इस भय का मारा वह भी मौन हो जाता है। परन्तु उन सच्चे पण्डितों को मौन वा भय करना उचित नहीं; क्योंकि मौन और भय के रहने से देश का अकल्याण, धर्म का नाश और अधर्म की वृद्धि होती है और इन धूर्तों की बन पड़ती है। इससे सत्य का प्रचार करने वा कराने में मौन वा भय नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो अच्छे पण्डित और बुद्धिमान् पुरुष भय वा मौन करेंगे तो इस देश का नाश ही हो जायगा।" (पृ० ३३५, ३३६)

केदार की उत्पत्ति–"केदार के विषय में ऐसी बात लोग कहते हैं कि जब पाण्डव लोग हिमालय में गलने को गए तब महादेव का दर्शन किया चाहते थे, परन्तु महादेव ने दर्शन न दिए क्योंकि वे अपने कुटुम्बियों को युद्ध में मार के आए थे। सो महादेव, पार्वती और उनके सब गणों ने भैंसे का रूप धारण कर लिया था। (पाण्डवों से) नारद जी ने कहा कि महादेवादिकों ने तुमको बहकाने के वास्ते भैंसे का रूप धारण कर लिया है। इसकी यह परीक्षा है कि महादेव किसी की टांग के नीचे से नहीं निकलते। तीन कोस के अन्तर से दो छोटे पर्वत थे उन पर भीम ने अपनी दोनों टांगें एक एक पर एक एक करके रखदीं उसके नीचे से और सब भैंसे तो निकल गए, परन्तु एक भैंसा नहीं निकला। तब भीम ने निश्चय कर लिया कि यही भैंसा (महादेव) है। भीम उसके पकड़ने को दौड़ा तब वह भैंसा पृथिवी में गुप्त होगया। उसका सिर नैपाल में निकला, जिसका नाम पशुपति रक्खा है। तथा उसका पग काश्मीर में निकला, जिसका नाम अमरनाथ रक्खा। और चूतड़ वहीं निकला जिसका नाम केदार है। और जं... जहां निकली उसका नाम तुंगनाथादिक रक्खा है। ऐसे पंच केदार लोगों ने रच लिए हैं।

इसमें विचारना चाहिए कि नैपाल में भैंसे का शृंग, नाक, कान कुछ नहीं दीख पड़ता है, काश्मीर में खुर भी नहीं दीख पड़ते; ऐसे ही अन्यत्र भी भैंसे का

कुछ चिन्ह नहीं दीख पड़ता, सर्वत्र पाषाण ही दीख पड़ता है । ऐसी २ मिथ्या बातों को मनुष्य मान लेते हैं, यह केवल अविद्या और मूर्खता का गुण है क्योंकि यदि भीम इतना लम्बा चौड़ा था तो उसका घर कितना लम्बा चौड़ा होना चाहिए और नगर वा मार्ग में कैसे चल सकता होगा तथा द्रौपद्यादिक उसकी स्त्री कैसे बन सक्ती ? और महादेव को क्या डर पड़ा था कि भैंसा होजाय ? फिर इतना लम्बा चौड़ा क्यों बन जाता ? और महादेव ने क्या अपराध वा पाप किया था कि चेतन से जड़ बन जाय इससे यह बात सब मिथ्या है ।"

(पृ० ३५६, ३५७)

न्यायालयों और पुलिस में सुधार–जितने अमात्य विचारपति राजघर में हों उनके ऊपर भी कुछ दण्ड व्यवस्था रखनी चाहिए, जिससे कि वे भी सच झूँठ के विचार में तत्पर होके न्याय ही करने लगें । देखना चाहिए कि एक (विचार पति) के यहां अर्ज़ी (पत्र) दिया उसके ऊपर विचार पति ने विचार करके अपनी बुद्धि और कानून की रीति से, एक की जीत की और दूसरे का पराजय । जिसका पराजय हुआ उसने ऊपर के हाकिम के पास फिर अपील की, सो जिसका प्रथम विजय हुआ था प्रायः उसका दूसरे स्थान में पराजय होजाता है और जिसका पराजय हुआ था उसका विजय; फिर ऐसे ही जब तक दोनों का धन नहीं चुक जाता तब तक, विलायत लों, लड़ते ही चले जाते हैं । रईस लोग प्रायः हठ के मारे इससे बिगड़ जाते हैं । इससे क्या चाहिए कि विचार करने वाले के ऊपर भी दण्ड की व्यवस्था होवे, जिससे वे अत्यन्त विचार करके न्याय करें । ऐसा आलस्य न करें कि जैसा हमारी बुद्धि में आया वैसा कर दिया, तुम्हारी इच्छा हो तो जाके अपील करदो । ऐसी बातों से विचार-पति भी आलस्य में आजाते हैं । और विचारपति की अत्यन्त परीक्षा करनी चाहिए कि अधर्म से डरता हो और विद्या बुद्धि से युक्त हो, *काम, क्रोध, लोभ मोह, भय, शोकादिक दोष जिसमें न हों और सब के अन्तर्यामी परमेश्वर से जिस को भय हो और किसी से नहीं तथा किसी प्रकार का पक्षपात कभी न करे*–ऐसा विचारपति हो तब राजा की प्रजा को सुख हो सक्ता है, अन्यथा नहीं ।

और पुलिस का जो महकमा है उसमें अत्यन्त भद्र पुरुषों को रखना चाहिए क्योंकि प्रथम स्थान न्याय का यही है; इससे ही आगे प्रायः वादविवाद के

व्यवहार चलते हैं। इस स्थान में पक्षपात से, जो अनर्थ लिखा पढ़ा जायगा, सो आगे भी अन्यथा प्रायः लिखा पढ़ा जायगा और अन्यथा व्यवहार भी प्रायः हो जायगा। इससे *पुलिस में अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुषों को रखना चाहिए*। अथवा पहले जैसे मुहल्ले मुहल्ले में चौकीदार रहता था उससे बहुधा अन्याय नहीं होता था। जब से पुलिस का प्रबन्ध हुआ है तब से बहुधा अन्यथा व्यवहार ही सुनने में आता है।" (पृ० ३८८, ३८९)

राजा सगर का न्याय—"महाभारत में सगर राजा की एक कथा लिखी है। उसका असमंजा नाम एक पुत्र था उसको अत्यन्त शिक्षा कीगई परन्तु उसने अच्छा आचार तथा विद्या ग्रहण न की, और प्रमाद में ही चित्त देता रहा। उसकी युवावस्था भी हो गई परन्तु उसको शिक्षा कुछ न लगी। राजादिक श्रेष्ठ पुरुषों को उसपर प्रसन्नता न हुई। फिर उसका विवाह भी करा दिया। एकदिन असमंजा सर्जू में स्नान के लिए गया था। वहां प्रजा के आठ आठ दस दस वर्ष के बालक जल में स्नान कर रहे थे और क्रीड़ा भी करते थे। उनमें से एक बालक बाहर निकला तो उसको पकड़ के असमंजा ने गहरे जल में फेंक दिया। वह बालक डूबने लगा तो किसी प्रजास्थ पुरुष ने उसको पकड़ लिया। शरीर में जल प्रविष्ट होने से वह बालक मूर्छित हो गया। उसकी यह दशा देख असमंजा बहुत प्रसन्न हुआ और हंसके घर को चला गया। किसी बालक ने उसके पिता के पास जाकर कहा कि तुम्हारे बालक की यह दशा राजा के पुत्र ने करदी है। यह सुनके उस बालक की माता और उसका पिता और सब कुटुम्ब के लोग उसे देख कर दुखी हुए। फिर उस बालक को उठा कर उधर को चले जहां राजा सगर की सभा लगी हुई थी। राजा सगर सिंहासन पर राजसभा में बैठे थे। इन लोगों को आते दूर से देखकर झट उठे और उनके पास जा कर पूछा कि इस बालक को क्या हुआ है। बालक का पिता बोला कि हमारे बड़े भाग्य हैं कि आप जैसा राजा हम लोगों के ऊपर है। दूरसे प्रजा को दुखित देख के कृपापूर्वक दौड़ के आना और उनका हाल पूछना यह प्रजा का बड़ा भाग्य है कि ऐसे राजा के आधीन हैं। राजा ने पूछा कि तुम अपनी बात कहो। तब उस ने राजा को कहा कि एकतो आप हैं और एक आप का पुत्र है जो कि अपने हाथ से ही प्रजा को मारने लगा है। और जैसा हुआ था वैसा सच्चा २ हाल राजा को

कह सुनाया। राजा ने वैद्यों को बुला के उसका जल निकलवा डाला और बालक औषधि सेवन से उसी समय स्वस्थ हो गया। फिर सभा में बालक, उसके माता, पिता, और जिसने (जल में से) बालक निकाला था ये सब आगए, और राजा ने आज्ञा दी कि असमंजा की मुश्कें बांध के उसे ले आओ। सिपाही लोग गए और वैसे ही उसको बांध के ले आए। असमंजा की स्त्री भी संग २ चली आई। वह असमंजा सभा में खड़ा कर दिया गया। राजा ने पुत्र की स्त्री से पूछा कि तू इस के साथ जाने में प्रसन्न है वा नहीं? उसने कहा कि जो दुःख वा सुख अब हो सो हो, परन्तु मेरे दौर्भाग्य से ऐसा पति मिला है तो मैं उसके साथ ही रहूंगी; पृथक् नहीं हूंगी। राजा ने असमंजा से कहा कि तेरा भाग्य कुछ अच्छा था कि यह बालक मरा नहीं; जो यह मर जाता तो तुझ को बुरे हाल से चोर की नाईं मैं मरवा डालता। परन्तु अब तुझे मैं मरणपर्य्यन्त बनवास देता हूं सो तू कभी ग्राम वा नगर में अथवा मनुष्यों के पास खड़ा रहा या गया तो तुझे चोर की नाईं मार डालेंगे। इस से तू ऐसे बन में जाके रह कि जहां मनुष्य का दर्शन भी न हो। सिपाहियों को हुक्म दिया कि जाकर तुम घोर बन में इन दोनों को छोड़ आओ। उसको न अच्छे अच्छे वस्त्र दिए, न संवारी और न धन दिया, किन्तु जैसे सभा में दोनों खड़े थे वैसे ही (ले जाकर) छोड़ आए। फिर वे बन में रहे और बन में ही उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। (असमंजा) की स्त्री अच्छी थी, उसने अपने पास ही बालक को रक्खा और शिक्षा भी की। जब बालक पांच वर्ष का हुआ तब वह स्त्री बालक को ऋषियों के पास रख आई और ऋषियों से कहा कि महाराज! यह आपका ही बालक है, जैसे यह अच्छा बने वैसे ही कीजिए। ऋषिलोगों ने बहुत प्रसन्न होके उस बालक को रक्खा और कहा कि इसको अच्छी प्रकार शिक्षा की जायगी; क्यों कि यह सगर (राजा) का पौत्र है। फिर स्त्री अपने स्थान पर चली गई और ऋषि लोगों ने उस बालक के यथावत् संस्कार किए, विद्या पढ़ाई और सब प्रकार की शिक्षा भी की। और उस बालक ने वह सब शिक्षा ग्रहण की। जब वह ३६ वर्ष का होगया तब उस को लेकर ऋषि लोग सगर राजा के पास गए और कहा कि यह आप का पौत्र है; इस की परीक्षा कीजिए। राजा (सगर) ने उस की परीक्षा की और अजारम श्रेष्ठ पुरुषों से भी कराई। वह

सब गुण और विद्या में योग्य ठहरा । तब प्रजास्थ पुरुषों ने राजा से कहा कि असमंजा जो आप का पौत्र हुआ है सो राजा होने के योग्य है । राजा ने उत्तर दिया कि सब प्रजास्थ बुद्धिमान् जो श्रेष्ठ पुरुष हैं उन की प्रसन्नता और सम्मति हो तो इस का राज्याभिषेक हो जाय । फिर सब श्रेष्ठ लोगों ने सम्मति दी और उस का राज्याभिषेक भी हो गया । क्यों कि सगर राजा अत्यन्त वृद्ध हो गए थे और राज कार्य में बहुत परिश्रम पड़ता था, इस लिए सब अधिकार उसी (पोते) को दे दिए..................

राजा भरत—एक भरत राजा था जिस के नाम पर इस देश का नाम भरतखण्ड रक्खा गया है उस के नौ (९) पुत्र थे। वे सब २५ वर्ष के ऊपर आयु वाले होगए फिर भी मूर्ख और प्रमादी ही रह गए । राजा ने और प्रजास्थ पुरुषों ने विचार किया कि इन में से एक भी राजा होने के योग्य नहीं है । तब भरत राजा ने इश्तिहार देकर पुरुष और स्त्रियों को बुलाया जो प्रजा में प्रतिष्ठित थे । एक मैदान में समाज का स्थान बनवाया जिस के बीच में एक मंचान भी गाड़ दिया। नियत दिन सब लोग इकट्ठे हुए, परन्तु किसी को विदित न था कि राजा क्या करेगा और क्या कहेगा । फिर मंचान पर चढ़ के राजा ने सब से पूछा कि जिस प्रजास्थ रईस का पुत्र इस प्रकार दुष्ट हो उस को ऐसा ही दण्ड देना उचित है जो हम इस समय अपने पुत्रों को देंगे, सो सदा सब सज्जन लोग इस नीति को मानें और करें । फिर राजा मंचान से उतरे । नवों पुत्र भी बीच में खड़े थे और सब समाज वाले देख रहे थे और उन की माता भी थी । तब राजा ने सब के सामने खड्ग हाथ में लेके नवों के सिर काट के मंचान के ऊपर बांध दिए । फिर भी सब से कहा कि जो किसी का पुत्र ऐसा दुष्ट हो तो उस को ऐसा ही दण्ड देना चाहिए, क्यों कि जो हम इन का सिर न काटते तो ये हमारे पीछे लड़ते, राज्य का नाश करते और धर्म की मर्य्यादा को तोड़ डालते । इस से राजपुत्रों तथा प्रजास्थ श्रेष्ठ धनाढ्य लोगों को ऐसा ही करना उचित है, अन्यथा राज्य, धन और धर्म सब नष्ट हो जायंगे—इस में कुछ सन्देह नहीं ।

देखना चाहिए कि आर्य्यवर्त्त देश में ऐसे ऐसे राजा और प्रजास्थ श्रेष्ठ पुरुष होते थे । इस समय आर्य्यवर्त्त देश में ऐसे भ्रष्टाचार हो गये हैं कि जिन की संख्या भी नहीं हो सकती । ऐसा सर्वत्र भूगोल में कोई देश नहीं, ऐसा श्रेष्ठ आचार

भी किसी देश में नहीं था। परन्तु इस समय पाषाणादिक मूर्ति पूजनादिक पाखण्डों में चक्राङ्कितादि संप्रदायों के वाद विवाद से, भागवतादि ग्रन्थों के प्रचार से, ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या के छोड़ने से यह देश ऐसा बिगड़ा है कि जैसी दुर्दशा महाभारत युद्ध के पीछे आर्य्यवर्त्त देश की हुई है ऐसी किसी देश की नहीं हुई; आजकल अंग्रेज़ के राज्य में कुछ कुछ सुख आर्यवर्त्त देश में हुआ है। जो इस समय वेदादिक पढ़ने लगें, ब्रह्मचर्याश्रम चालीस वर्ष तक करें, कन्या और बालक सब श्रेष्ठ शिक्षा और विद्या वाले होवें तो इस देश की उन्नति और सुख हो सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि बिना श्रेष्ठ व्यवहार विद्यादिक गुणों के सुख नहीं होगा। आज कल जो कोई राजा ज़मीनदार वा धनाढ्य होते हैं, उनके पास मत मतान्तर के पुरुष और खुशामदी लोग बहुत रहते हैं। वे बुद्धि, धन और धर्म नष्ट कर देते हैं। इस से सज्जन लोग इन बातों को विचार के समझ लें और करने के व्यवहार को करें।" (पृ० ३९०, ३९२)

ऋषि दयानन्द का असली सिद्धान्त।

पहले लिखा जा चुका है और सारा सभ्य संसार मान चुका है कि स्वामी दयानन्द वैदिक धर्म के एक आचार्य थे। उन्होंने स्वयम् कहीं भी स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापन करने का दावा नहीं किया। इस लिये यह कहना अन्याय है कि स्वामी दयानन्द, आर्यसमाज पर, किन्हीं स्वकल्पित सिद्धान्तों का बोझ डाल गये हैं। उन का विनीत भाव तो नए सत्यार्थप्रकाश के "स्वमन्तव्यामन्तव्य" प्रकरण से भी विदित होता है जहां उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत मतान्तर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नहीं है।" वह अपना मत वही बतलाते हैं जो वेदादि सत्य शास्त्रों में लिखा और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त मानते रहे हैं। आदिमसत्यार्थप्रकाश में तो प्रत्येक विषय की समाप्ति पर वह बारम्बार यही जताते हैं कि उन के आशय का विस्तार देखना हो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। यथा—

द्वितीय समुल्लास के अन्त में—"यह बालशिक्षा तो कुछ कुछ शास्त्रों के आशयों से लिख दी परन्तु सब शिक्षा का ज्ञान जब वेदादिक सत्यशास्त्रों को पढ़ेंगे और विचारेंगे, तब होगा।"

चतुर्थ समुल्लास—"यह गृहस्थ लोगों की शिक्षा संक्षेप से लिख दी और जो विस्तार देखना चाहैं तो वेदादिक सत्यशास्त्र और मनुस्मृति में देखलेवें।"

पांचवां समुल्लास—"चार वर्ण और चार आश्रम, इनकी शिक्षा संक्षेप से लिख दी और विस्तार से जो देखना चाहे सो वेदादिक सत्यशास्त्रों में देखलेवें।"

सप्तम समुल्लास—"ईश्वर और वेद के विषय में संक्षेप से कुछ थोड़ासा लिख दिया और जो विस्तार से देखना चाहे सो वेदादिक सत्यशास्त्रों में देखलेवें।"

यही पाठ आठवें और नवें समुल्लास में भी दोहराया है। इससे ज्ञात होता है कि ऋषि दयानन्द की असीम श्रद्धा वेद और तदानुकूल सत्यशास्त्रों पर थी और उन्हीं की ओर भूमण्डल के मनुष्यों का ध्यान आकर्षित करना उनका मिशन था। ऋषि दयानन्द का एक ही सिद्धान्त था—वह यह कि मनुष्यमात्र का पथ दर्शक वेद है और इसलिये जो कुछ उसकी आज्ञा है उसी के अनुसार चलना धर्म है, जिससे, अर्थ और काम की प्राप्ति होकर, अन्त को मोक्ष भी मिलजाता है।

तब हम ने उन के आदिमसत्यार्थप्रकाश से इतने उद्धरण क्यों इकट्ठे कर दिए हैं? इन उद्धरणों को सर्वसाधारण के आगे रखने का यह तात्पर्य नहीं कि ये सब आर्यसमाज के सिद्धान्त हैं। इन लेखों में बहुत सी ऐतिहासिक सम्मतियां ऐसी हैं जिन के साथ कई आर्यपुरुषों का मत हो सकता है, बहुत से विचार ऐसे होंगे जिन को नई दृष्टि से देखना सम्भव होगा। परन्तु फिर भी ऋषि दयानन्द की इन विषयों में सम्मति जानने से वेदादिक सत्यशास्त्रों का आशय जानने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इन को इकट्ठा करने का तात्पर्य केवल यह है कि जिस ऋषि ने अविद्यान्धकार को दूर करके हमें वेदरूपी सूर्य के दर्शन कराए वह उस प्रकाश से क्या समझता था, जिस से हमें उस प्रकाश की खोज में भ्रम न रहे।

संशोधित सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तो दोनों दार्शनि ग्रन्थ हैं। उन में स्वभावतः संक्षेप से ही काम लिया गया है और ऐसा होना भी चाहिये था। उन दोनों दार्शनिक ग्रन्थों का किसी अंश में विस्तार देखना हो तो न केवल आदिम सत्यार्थ प्रकाश के उद्धृत किये हुए लेख ही सहायक हो सकते हैं परन्च ऋषि दयानन्द के जीवन वृत्तान्त से भी

इन दार्शनिक विषयों पर बड़ा प्रकाश पड़ सकता है, और आर्य समाजियों को अमली जीवन के लिए भी स्पष्ट शिक्षा मिल सकती है। इन उद्धरणों में बहुत से ऐतिहासिक वृत्तान्त ऋषि दयानन्द ने अपने विशेष भावों के अनुसार दिए हैं जिन से मालूम हो सकता है कि एक स्मृतिकार की हैसियत से इस समय के लिए किन विशेष नियमों का पालन ऋषि दयानन्द आवश्यक समझते थे। दृष्टान्त के लिए कुछ विषय लेकर हम अपनी समझ के अनुसार बतलाना चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द आर्यों से किस आचरण की आशा रखते थे।

स्त्री शिक्षा के विषय में जो ऋषि दयानन्द के विचार थे वे छिपे हुए नहीं हैं। स्त्रियों के अधिकारों के विषय में भी उनके विशेष विचार थे। कन्या गुरुकुलों की वह बालकों के गुरुकुलों की तरह बड़ी आवश्यकता बतलाते थे। यह सब कुछ उनके ग्रन्थों से स्पष्ट विदित होता है। पर्दे के विषय में चतुर्थ समुल्लास से उद्धरण वही कुछ प्रकट करता है जो जीवन चरित्र में दिए बीसियों व्याख्यानों का सारांश है। परन्तु स्त्रियों को किन किन विषयों की विशेष शिक्षा होनी चाहिए यह स्पष्ट विदित नहीं होता। संशोधित सत्यार्थ प्रकाश के पढ़ने से यही भाव जमता है कि बालकों की तरह ही बालिकाओं को भी सब विषय वैसे ही पढ़ाने चाहिए।

परन्तु जीवन चरित्र के पढ़ने से यह पता लगता है कि ऋषि दयानन्द स्त्रियों की शिक्षा के लिए कोई जुदी पाठ्य पुस्तकें निर्माण करने वाले थे। जीवन चरित्र के पृ० ७०६ पर लिखा है............"प्रश्न किया कि महाराज सत्यार्थ प्रकाश दूसरी मरतबा कब छपेगा, उसकी बहुत आवश्यकता है। फ़रमाया कि मैं यही तो कर रहा हूं और कोई मेरा काम नहीं। फिर फ़रमाते थे *ईश्वर कृपा करे तो इनके पश्चात् स्त्रीशिक्षा की पुस्तकें बनाऊंगा*। यह कह कर के गाड़ी में देहरादून सवार होगए।"

ऋषि दयानन्द स्त्रियों के लिए, पुरुषों से अलग, पाठ विधि बनाना चाहते थे। वह पाठविधि क्या होती इस का कुछ पता उन उद्धरणों से लग सक्ता है जो गृहस्थ प्रकरण के अन्दर स्त्रियों के कर्तव्य विषय में और अग्निकुल के क्षत्रियों की धर्म पत्नियों की पढ़ाई के हाल में दिया गया है।

फिर ब्रह्मचर्य के विषय में इस समय के लिए ऋषि दयानन्द की क्या राय थी। साधारणतया तो लोग यही समझते हैं कि इस गिरे हुए समय में पुरुष के लिये २५ और स्त्री के लिए १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन काफी है। परन्तु जहां अग्निकुल की क्षत्रिया ब्रह्मचारिणियों का वर्णन है, वहां ४० वर्ष के ब्रह्मचारी के साथ २० वर्ष की ब्रह्मचारिणी का विवाह होना लिखा है और साथ ही उनको उपदेश है कि युद्ध में साथ तो इसलिए रहो कि कामचेष्टा तुम्हें प्रलोभन में न फंसाए परन्तु अपना बल स्थिर रखने के लिए वहां भी ब्रह्मचारी रहो। हमारी सम्मति में इस समय के आर्यों के लिये ऋषि का विशेष उपदेश है कि ब्रह्मचर्य की अवधि को जहांतक हो सके बढ़ा के अपनी जाति पर आई हुई आपत्तियों से उसे छुड़ाने के लिये दम्पति को धर्म युद्ध के वास्ते तय्यार रहना चाहिये।

गृहस्थ का समयविभाग और उनके लिये व्यायाम की शिक्षा बहुत ही उत्तम है जिसकी ओर अधिक ध्यान होना चाहिए। इस समयविभाग को पढ़कर पता लगता है कि ऋषि दयानन्द प्रत्येक नियम पर कैसा विस्तार पूर्वक विचार करते थे।

संन्यास विषय में उनका उपदेश स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य्य से संन्यास धारण करने वाला तो कोई विरला ही अपना सत्य स्थिर रखने में कृतकार्य होता है। इतिहास में भी शङ्कर स्वामी के पश्चात् दयानन्द स्वामी को ही हम बाल ब्रह्मचारी आदित्यसंन्यासी देखते हैं। हां, वानप्रस्थ तो तीनों वर्णों के लिए आवश्यक लिखा है, जिसका कोई अनुसरण नहीं करता। संन्यास का विधान उनके लिए है जो गुण कर्मानुसार ब्राह्मण हों और तीनों ऋणों से यथावत मुक्त हो चुके हों, उन्हें संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। बीस पच्चीस वर्ष के जवान बालक का गृह का कर्त्तव्य छोड़, माता पिता की सेवा से छुटकारा पाकर, भगवें पहिरना ऋषि दयानन्द के मतानुसार ठीक नहीं प्रतीत होता। जो संन्यासी हों उनमें जिन्हें वाणी वा लेख द्वारा उपदेश देने की योग्यता हो वे धर्मप्रचार के उत्तम कार्य करें। जिनमें यह योग्यता न हो वे घर से अलग, एकान्त देश रह कर, अपने पुत्र से भोजन वस्त्र लेते हुए और वेद के स्वाध्याय में रत रहते हुए, मोक्ष का यत्न करें।

इसी प्रकरण में संन्यासी के नाम बदलने को भी अनावश्यक बतलाया है और शङ्कराचार्य के पीछे चले हुए दश नाम संन्यासियों को भी वेद विरुद्ध बत-

लाया है। आर्यसमाज के कुछ संन्यासियों का ऐसा तर्क है कि अन्य नाम (गिरि, पूरी, पर्वतादि) तो त्याज्य हैं, परन्तु यतः आचार्य ने स्वयं ' सरस्वती ' उपाधि का त्याग नहीं किया था, इसलिये आर्य संन्यासी भी ' सरस्वती ' उपाधि का त्याग न करें। परन्तु यह कोई दलील नहीं। स्वामी दयानन्द को सरस्वती नाम उन के गुरू ने उस समय दिया था जब कि रोटी पकाने के बखेड़े से अलग होकर वह विद्याध्ययन करना चाहते थे। उन को जो नाम मिला वह लिखते रहे परन्तु आचार्य रूप से उपदेश देते हुए जिसका उन्होंने स्पष्ट खण्डन कर दिया उस 'सरस्वती' की उपाधि को अब अपने पीछे लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

संस्कृत के सर्व भाषाओं की माता होने की जो कल्पनाएं हैं, वे बड़ी मनोरञ्जक हैं।

कहां तक लिखा जाय जो उद्धरण हमने दिए हैं उनका हेतु उनके अन्दर ही विद्यमान है और इसलिये उनपर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

ये सब उद्धरण स्मृति रूप से दिए गए हैं। इन का वहीं तक प्रमाण है जहां तक कि वे वेदानुकूल हैं। मनु महाराज ने वेद को परम प्रमाण बतला कर उससे नीचे दर्जा स्मृति का बतलाया है। बस वही दर्जा सत्यार्थप्रकाश तथा आचार्य के मौखिक उपदेशों का है। उन से नीचे दर्जा आचार्य के आचरणों का है क्योंकि मनु ने भी सदाचार को तीसरे दर्जे में धर्म के लिये प्रमाण माना है।

अन्त में हम ऋषि दयानन्द के पवित्र विचारों को अधिक विस्पष्ट करने के लिए कतिपय विषयों पर पं० लेखराम कृत जीवन चरित्र से कुछ उद्धरण देते हैं।

सत्यार्थप्रकाश में मूर्त्तिपूजन के विरुद्ध, बहुत सी दलीलों में से, एक दलील यह भी दी है कि मूर्त्ति पर जो पुष्प चढ़ाए जाते हैं वे पानी में सड़ कर [दुर्ग]न्ध उत्पन्न करते हैं और जो सुगन्धि चिरकाल तक उन से फैलकर मनुष्यों का [उप]कार होना था, उसके स्थान में अपकार होता है। इस विषय पर जीवनचरित्र [से] कुछ उद्धरण शिक्षा-दायक होंगे :—

पुष्पों की पवित्रता-"लाहौर में आने के दूसरे दिन, २० अप्रैल सं० १८७७ को पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री, एडिटर रिसाला बिरादर-ए-हिन्द, ने स्वामी जी के साथ वेदों के कलाम-ए-इलाही (ईश्वरीयज्ञान) होने पर वार्ता-